हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २००९, नवम्बर १९५२

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

कृपालु और प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे निवेदन

यह छब्बीसवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क निकलनेपर इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा। सत्ताईसवें वर्षका प्रथम अङ्क 'बालक-अङ्क' होगा। इस बालक-अङ्कमें—

(१) बालकोंके स्वभाव, सदाचार, आहार-विहार, शिष्टाचार, पालन-पोषण तथा शिक्षणके सम्बन्धमें बहुत-से उपयोगी लेख होंगे।
(२) बालकोंके माता-पिता, गुरु, अभिभावकोंके कर्तव्यसूचक कई लेख होंगे।
(३) बालकोंके संस्कार-सम्बन्धी लेख होंगे।
(४) बालकोंके खेल-सम्बन्धी लेख होंगे।
(५) भगवान् श्रीरामका सुन्दर बालचरित्र होगा।
(६) भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर बालचरित्र होगा।
(७) प्राचीन कालके बहुत-से आदर्श बालकोंके ज्ञान-भक्ति, सदाचार-प्रधान चरित्र होंगे।
(८) देश-विदेशके ईश्वरभक्त बालक, वीर-बालक, मातृपितृभक्त बालक, परोपकारी बालक, सत्य-प्रेमी बालक, सेवाव्रती बालक, विश्वासी बालक, त्यागी बालक, चतुर बालक—यों आदर्श बालकोंके बहुत सुन्दर चरित्र होंगे।
(९) बालकोंको ऊँचा उठानेवाली तथा उनका मनोरञ्जन करनेवाली कहानियाँ होंगी।
(१०) भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाके बहुत सुन्दर-सुन्दर रंगीन तथा सादे चित्र होंगे।
(११) संसारके प्राचीन और अर्वाचीन आदर्श बालक-बालिकाओंके बहुत सुन्दर चित्र होंगे।

इस अङ्कके कुछ लेखकोंके नाम

ज्योतिर्मठ, पुरी तथा द्वारिकाके अनन्तश्रीशङ्कराचार्यजी, स्वामीजी सर्वश्रीकरपात्रीजी, श्रीकृष्णबोधाश्रमजी, श्रीशिवानन्दजी, श्रीचिदानन्दजी, श्रीविशुद्धानन्दजी, राष्ट्रपति डा० श्रीराजेन्द्रप्रसादजी, उत्तर प्रदेशके राज्यपाल श्रीकन्हैयालालजी माणिकलालजी मुंशी, मध्यप्रदेशके राज्यपाल श्रीपट्टाभि सीतारामैया, मद्रासके राज्यपाल श्रीश्रीप्रकाशजी, बिहारके राज्यपाल श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, वयोवृद्ध विद्वान् डा० श्रीभगवान्दासजी, संत श्रीविनोबाजी भावे, श्रीदादा धर्माधिकारीजी, रा० स्व० संघके श्रीगोलवलकरजी, बाबा राघवदासजी, उत्तरप्रदेशके मुख्यमन्त्री पं० श्रीगोविन्दवल्लभजी पन्त, उत्तर प्रदेशके गृह तथा श्रममन्त्री बाबू सम्पूर्णानन्दजी, उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीहरगोविन्द सिंहजी, हिन्दू-विश्वविद्यालयके कुलपति आचार्य श्रीनरेन्द्रदेवजी, डा० अमरनाथजी झा, अजमेरके मुख्य मन्त्री पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, सौराष्ट्रके शिक्षामन्त्री श्रीजादवजी, पं० श्रीरामनारायणजी मिश्र, पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, डा० श्रीवासुदेवशरणजी एम्०ए०, डा० श्रीउमेशजी मिश्र एम्०ए०, पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्०ए०, पं० श्रीनन्ददुलारेजी बाजपेयी एम्० ए०, दीवानबहादुर के० एम्० रामस्वामी, दीवानबहादुर कृष्णलाल मो० झवेरी एम्० ए०, जे० पी० वायसचान्सलर महिला-विश्वविद्यालय, पं० श्रीगंगाशङ्करजी मिश्र एम्० ए०, पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी, पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री, पं० श्रीश्रीपाददामोदर सातवलेकर, कर्नल श्रीशुकदेवजी पाण्डेय बी०एस०-सी, श्रीजैनेन्द्रजी, श्रीभगवान्दासजी केला, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीफीरोज कावसजी दावर एम्० ए०, श्रीरामनिवासजी शर्मा, श्रीजयेन्द्रराव भगवान्दास

क—

दूरकाल एम्० ए०, श्रीसंतरामजी बी० ए०, पं० श्रीरामजी शर्मा, पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा, श्रीरामचरणजी महेन्द्र, पं० श्रीवेणीरामजी, डा० श्रीमहम्मद हाफिज सैयद एम्० ए०, श्रीजहूरबख्स, श्रीविद्यादेवीजी, श्रीशान्तादेवीजी वैद्या आदि-आदि ।

यह अङ्क बहुत आकर्षक तथा बालक-वृद्ध, परमार्थी-संसारी—सभीके लिये बड़े कामका होगा । अतएव जो सज्जन ७॥) रुपये पहलेसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको शायद निराश होना पड़े । इसलिये जिन नये-पुराने सज्जनोंको ग्राहक बनना हो वे मनीआर्डरसे तुरंत ७॥) भेज दें और जिन शिक्षासंस्थाओं या दाताओंको बाँटनेके लिये अधिक अङ्क लेने हों, वे भी पहलेसे सूचना भेज दें, ताकि उनके लिये उनके विशेषाङ्क अधिक छापे जायँ ।

ग्राहकोंको पत्र-व्यवहारमें वी०पी० मँगवाते समय और मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम-पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्टआफिस, जिला, प्रान्त—सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये । मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये ।

सजिल्द विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १।) जिल्द-खर्च अधिक अर्थात् ८।।।) भेजकर कूपनमें लिख देना चाहिये कि १।) जिल्दके लिये भेजा गया । यह भी याद रखना चाहिये कि सजिल्द अङ्क देरसे मिलेगा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीता-दैनन्दिनी (गीता-डायरी) सन् १९५२ ई०

प्रथम संस्करणमें केवल ५०००० प्रतियाँ छपी थीं, जो अधिकांश बिक गयीं; अतः १५००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया है ।

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, मूल्य अजिल्द ॥=), कपड़ेकी जिल्द ।।।) मात्र ।

इसमें अठारहों अध्याय सम्पूर्ण गीता, हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और गुजराती तिथियाँ, सूर्योदय-सूर्यास्तका समय तथा मुख्य-मुख्य त्यौहारोंका संकेत किया गया है ।

प्रारम्भमें तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रसूचक तिथिपत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कलेण्डर, त्यागके सोलह तथा ग्रहणके बारह नियमोंकी साधक-नियमावली, नित्य-प्रार्थना और जीवन-सुधारके लिये संत-महात्मा और शास्त्रोंके अनेक मनन करनेयोग्य उपदेश, दैनिक वेतन और मकान-भाड़ेका नक्शा, भारतीय रेलोंके छः विभागोंमें किये गये नये विभाजनका विवरण, रेलयात्रा, डाक, तार, इनकमटैक्स आदिके विषयमें खास-खास जाननेयोग्य बातें, माप-तौलकी सूची, अनुभूत घरेलू प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षाके सप्त सूत्र एवं अन्तमें जरूरी बातें नोट करनेके लिये स्मरण-पत्रके कुछ सादे पृष्ठ भी दिये गये हैं । गीताप्रेस-की संक्षिप्त पुस्तक-सूची भी दी गयी है ।

एक अजिल्द प्रतिके लिये डाकखर्चसहित १-), दोके लिये १।।।), तीनके लिये २॥), छःके लिये ४॥=) और बारहके लिये ८।।।=) तथा एक सजिल्दके लिये डाकखर्चसहित १≡), दोके लिये २), तीनके लिये २।।।≡) छःके लिये ५॥) और बारहके लिये १०॥) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये । यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये । इससे आपके समय और पैसे बच सकते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र

(सरल भाषानुवादसहित)

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी पृष्ठ ६४, मूल्य -)॥ मात्र।

मुनिवर शाण्डिल्यद्वारा विरचित भक्ति-सूत्र सरल भाषानुवादसहित छोटे ट्रेक्टके आकारमें प्रकाशित किया गया है।

सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन ?

लेखक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या २४, मूल्य -) मात्र।

कल्याणके चालू वर्षके अगस्तके अङ्कमें गये हुए श्रीपोद्दारजीके इस लेखसे जनताका बहुत उपकार हुआ है और हो रहा है। देशके गण्यमान्य लोगोंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उस लेखोंमें कुछ संशोधन करके आचार्य श्रीविनोबाजी भावे, श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचारीजी, श्रीकन्हैयालाल माणिकलालजी मुंशी तथा उत्तर-प्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीहरगोविन्दसिंहजीकी सुविचारित सम्मतियोंसहित यह पुस्तिका प्रकाशित की गयी है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुस्तकका नया संस्करण

श्रीमन्महर्षि पाराशर-प्रणीत

श्रीश्रीविष्णुपुराण (सचित्र)

[मूल श्लोक और हिंदी-अनुवादसहित]

आकार २२×२९ आठ पेजी, तीस पौंडके मोटे कागज, पृष्ठ-संख्या ६२४, आठ सुन्दर बहुरंगे चित्र, पूरे कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ४) मात्र।

अष्टादश पुराणोंमें श्रीविष्णुपुराणका स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें अन्य विषयोंके साथ भूगोल, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, राजवंश और श्रीकृष्ण-चरित्र आदि कई प्रसङ्गोंका बड़ा ही अनूठा और विशद वर्णन किया गया है। भक्ति और ज्ञानकी प्रशान्त धारा तो इसमें सर्वत्र ही प्रच्छन्नरूपसे बह रही है।

संवत् १९९२ में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था, जो शीघ्र ही बिक गया। तभीसे इसके पुनर्मुद्रणके लिये प्रेमी ग्राहक आग्रह करते रहते थे; परंतु युद्धजनित तथा कागजके कोटे आदिकी अन्य कठिनाइयोंके कारण इस कार्यमें विलम्ब होता गया। भगवत्कृपासे अब यह तीसरा संस्करण तैयार हो सका है। जिन्हें आवश्यकता हो मँगवानेकी कृपा करेंगे।

विशेष सूचना

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें—

A. H. Wheeler Co. के आसाम, पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, उड़ीसा आदि राज्योंके रेलवे स्टेशनोंके चुने हुए पुस्तक विक्री-स्टालोंपर मिलनेकी व्यवस्था हो गयी है। आशा है कि इससे प्रेमी पाठकोंको पुस्तकें प्राप्त करनेमें सुविधा हो सकेगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)
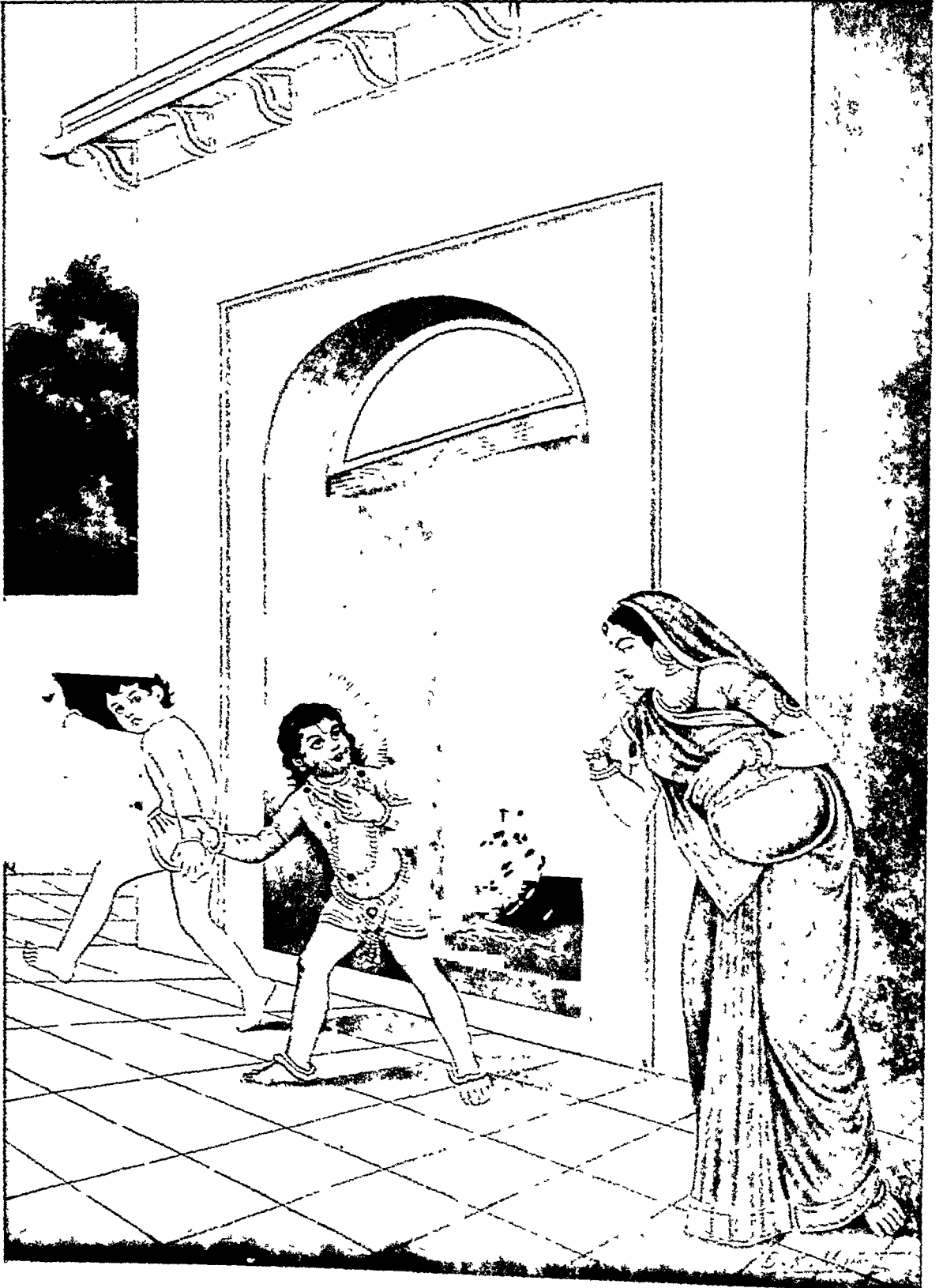
माखन-खवैया

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यत्कृष्णप्रणिपातधूलिधवलं तद्वर्ष्म तद्वच्छुभं नेत्रे चेत्तपसोर्जिते सुरुचिरे याभ्यां हरिर्दृश्यते ।
सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी सा जिह्वा मृदुभाषिणी नृप मुहुर्या स्तौति नारायणम् ॥

—नारद

वर्ष २६ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २००९, नवम्बर १९५२ { संख्या ११ पूर्ण संख्या ३१२

माखन-खवैया

× × × × ×

आइ गई कर लिये कमोरी, घर तें निकसे ग्वाल ।
माखन कर दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल ॥
कहँ आए ब्रज बालक सँग लै, माखन मुख लपटान्यौ ।
खेलत तें उठि भज्यौ सखा यह, इहिं घर आइ छपान्यौ ॥
भुज गहि लियौ कान्ह एक बालक, निकसे ब्रजकी खोरि ।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि ॥

—सूरदासजी

कल्याण

याद रक्खो—मनुष्यकी सच्ची प्रतिष्ठा तो उसके जीवनमें सर्वत्र प्रकाशित दैवी गुणोंमें है—दैवी जीवनमें है। धन और पदसे जीवनकी महत्ताका जरा भी सम्बन्ध नहीं है। धन तो अत्याचारी डकैतोंके पास भी हो सकता है। दुष्ट राक्षस भी समस्त दैवी जगत्को संत्रस्त करनेवाली अपनी राक्षसी शक्तिके द्वारा कुछ समयके लिये विश्व-सम्राट्के पदपर आरूढ़ हो सकते हैं।

याद रक्खो—जिन्होंने अपने बुरे आचरणों तथा दुष्ट व्यवहारोंसे मानवतापर कलङ्क लगा दिया है, जो अपने निषिद्ध कर्मोंके द्वारा जगत्के सामने नीच तथा पतित आदर्शकी प्रतिष्ठा कर रहे हैं, वे कुछ समयके लिये इन्द्रियोंके गुलाम, चाटुकार, भ्रान्त और भोग-परायण जनसमूहपर धन और अधिकारकी धाक जमा-कर उनके द्वारा भले ही मिथ्या अभिनन्दन तथा प्रतिष्ठा प्राप्त कर लें; परंतु उनको अपने दुष्कर्मोंका भीषण परिणाम अवश्य भोगना पड़ेगा।

याद रक्खो—मनुष्य पतित-समाजमें अपने पतित कर्मोंकी प्रमुखतासे प्रशंसा-प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है, वैसे ही, जैसे चोर-डकैतोंके दलमें सफल चोर-डकैत आदर-सम्मान प्राप्त करता है; परंतु इस आदर-सम्मान और प्रशंसा-प्रतिष्ठासे उसका और भी पतन होता है और कर्मफलनियन्ता सर्वशक्तिमान् परमात्माकी दृष्टि, न्याय और दण्डसे वह कभी नहीं बच सकता।

याद रक्खो—मनुष्य ऊपरसे भला बनकर, भले-मानुसका वेश धारणकर भोली जनताको ठगनेके लिये दम्भ कर सकता है और उसमें सफल भी हो सकता है; परंतु सर्वान्तर्यामी परमात्माके सामने उसका दम्भ नहीं चल सकता—उसकी पोल खुल जाती है और उसे अपने कर्मका भयानक फल भोगना ही पड़ता है।

याद रक्खो—दम्भी पुरुष चाहे यह मान ले कि मैं बड़ा चतुर हूँ, लोगोंको बड़ी आसानीसे ठग सकता हूँ, पर वस्तुतः वह स्वयं ठगाता है—अपनी सच्ची सम्पत्ति—दैवी सम्पत्तिको खोकर वह अपना बहुत बड़ा नुकसान करता है।

याद रक्खो—दैवी सम्पत्तिके लक्षण या दैवी गुण प्रधानतया ये छब्बीस हैं—निर्भयता, अन्तःकरणकी पवित्रता, ज्ञानयोगमें स्थिति, दान, इन्द्रियदमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा-चुगली न करना, प्राणियोंपर दया, लालचका अभाव, मृदुता, बुरे कर्मोंमें लज्जा, चपलताका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अद्रोह और मानका अभाव।

याद रक्खो—जिनमें ये दैवी गुण हैं, वे संसारके बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्को प्राप्त हो जायँगे, उनका मनुष्य-जन्म सफल हो जायगा। इसके विपरीत, जिनमें उपर्युक्त आसुरी और राक्षसी भाव होंगे, उनका यहाँ तो पतन होगा ही, वे कर्मबन्धनमें और भी जकड़े जायँगे।

याद रक्खो—मनुष्यका मनुष्यत्व इसीमें है कि वह स्वयं भगवान्को भजे और दूसरोंको भजनमें लगावे। जो इससे विपरीत केवल विषय-भोगमें लगा है, वह पशु है और जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिके लिये हिंसा, असत्य, अन्याय, दम्भ और निषिद्ध कर्मोंका आश्रय लेता है, वह तो पिशाच या राक्षस है।

'शिव'

एक क्षणमें भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

एक सज्जनने पूछा है कि "ऐसा कौन-सा 'क्षण' होता है, जिसमें तुरंत भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ?" इसके उत्तरमें निवेदन है कि जैसे बिजली फिट हो जाय तथा पावरहाउससे उसका कनेक्शन हो जाय तो फिर जिस क्षण स्विच दबाया जाता है, उसी क्षण प्रकाश हो जाता है और अन्धकारका भी उसी क्षण नाश हो जाता है । इसी प्रकारसे मनुष्य जब 'पात्र' हो जाता है, सब तरहकी उसकी पूरी तैयारी होती है, तब परमात्माके विषयका ज्ञान क्षणमात्रमें हो जाता है तथा ज्ञान होते ही उसी क्षण अज्ञानका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । दूसरा उदाहरण है—जैसे किसीको दिग्भ्रम हो जाता है तो उसको पूर्वमें पश्चिमकी और पश्चिममें पूर्वकी प्रतीति होती है, पर जब वह दिग्भ्रम मिटता है, तब क्षणमात्रमें ही मिट जाता है और उसी क्षण दिशाका यथार्थ ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब उसी क्षण दिग्भ्रमकी भाँति मिथ्या भ्रम मिट जाता है, और उसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । तीसरा उदाहरण है—जैसे किसीको रात्रिके समय नींदमें स्वप्न आ रहा है, इतनेमें किसी कारणसे वह जग गया, बस, जगते ही स्वप्नका सारा संसार क्षणमात्रमें नष्ट हो गया—उसका अत्यन्त अभाव हो गया । इसी प्रकारसे परमात्मामें जगनेसे अर्थात् परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित होनेपर ज्ञानरूपी नेत्रोंके खुलनेसे उसी क्षण यह संसार सर्वथा छिप जाता है । जगनेपर स्वप्न-लोप होनेकी भाँति यह संसार लुप्त हो जाता है तथा परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है, अथवा अपने जन्मस्थानपर आनेसे भी मिट जाता है; तथा जैसे स्वप्नावस्थामें जब मनुष्य स्वप्नको स्वप्न समझ लेता है, तब वह अपने-आप जग जाता है अथवा दूसरेके जगानेसे भी जग जाता है । इसी प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गम्भीर विचार करनेसे संसारको हर समय स्वप्नवत् देखनेपर तथा कर्मयोगकी सिद्धि होनेपर जो अपने-आप ही ज्ञान हो जाता है, वह अपने-आप जगना है (गीता ४ । ३८) । तथा *महात्माओंके शरण जानेपर उनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है,* वह दूसरेके जगानेसे जगना है (गीता ४ । ३४-३५)। अब दिग्भ्रमके विषयमें यह समझना चाहिये कि जब किसीको दिग्भ्रम हो जाता है, तब वह यदि अपने जन्म-स्थानमें चला जाता है तो उसकी चौंधियायी आँखें उसी क्षण ठीक हो जाती हैं । इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थितिरूप जन्मस्थानपर पहुँचनेसे तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । विचार कीजिये, यहाँ हमारा जन्मस्थान क्या है ? परमात्माका जो स्वरूप है, वही हमारा जन्मस्थान है, वही हमारा असली आदिस्वरूप है; अतः परमात्माके स्वरूपमें स्थित होते ही संसारका भ्रम मिट जाता है । जैसे दिग्भ्रमके समय भ्रमसे पूर्वकी ओर पश्चिम और पश्चिमकी ओर जो पूर्व दीखता था, वह भ्रम मिटकर यथार्थ दीखने लग जाता है, वैसे ही परमात्मामें भ्रमसे जो यह संसार प्रतीत हो रहा है, यह भ्रम मिट जाता है । अथवा जैसे दिग्भ्रम अपने-आप ही मिट जाता है, इसी प्रकारसे यह संसार-भ्रम भी संसारको हर समय स्वप्नवत् समझते रहनेपर किसी-किसीके अपने-आप ही शान्त हो जाता है । एवं जब चित्तकी वृत्तियाँ पूर्णतया सात्त्विक हों तथा साथ ही वैराग्य भी हो तब अपने-आप ही ज्ञान पैदा हो जाता है । ऐसी स्थितिमें किसी संतके द्वारा तत्त्वोपदेश मिल

जाय, तब तो कहना ही क्या है ! फिर तो परमात्माका वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो ही जाता है (गीता ४।३४-३५) । तथा मरनेके समय तो परमात्माके ध्यानमात्रसे ही उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(गीता ८ । ५)

'अन्तकालमें जो मेरा ही स्मरण करता हुआ जाता है, वह मेरे ही भावको प्राप्त हो जाता है—इस विषयमें कोई संशय नहीं है ।' इसी प्रकारसे भगवान्‌ने गीता दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें कहा है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

'हे अर्जुन ! ब्रह्ममें स्थितिरूप (ब्राह्मी) स्थितिको प्राप्त होकर फिर मनुष्य मोहको प्राप्त नहीं होता । यह ब्राह्मी स्थिति अन्तकालमें भी हो जाती है तो पुरुष निर्वाण-ब्रह्मको यानी शान्तिमय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।' यह अन्तकालकी स्थितिकी महिमा है । इसी प्रकारसे सत्त्वगुणकी स्थितिमें प्राण जानेसे भी बड़ा लाभ है । गीताके १४ वें अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है कि—'जिनकी सत्त्वगुणमें स्थिति है, वे ऊर्ध्वको प्राप्त हो जाते हैं ।' (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः) इसका अभिप्राय तो यह है कि जिसकी सदा ही सत्त्वगुणमें स्थिति है, वही ऊपरको जाता है; परंतु अन्त समयमें भी कोई यदि सत्त्वगुणको प्राप्त हो जाता है या जिस समय सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, उस समय किसीके प्राण निकलते हैं, तो वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता है । भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥
(१४ । १४)

अर्थात् 'जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके मलरहित पवित्र शुद्ध लोकोंको जाता है ।' यहाँ अभिप्राय यह है कि वह ऊपरके लोकोंको जाता है और फिर वहाँसे आगे बढ़कर परमात्माको—परमधामको प्राप्त हो जाता है । (इसका विस्तृत अर्थ गीता-तत्त्वविवेचनी-टीकामें ८ वें अध्यायके २४ वें श्लोककी व्याख्यामें देखना चाहिये ।) इसे क्रम-मुक्ति कहते हैं । यहाँ यह समझना चाहिये कि जैसे अन्तकालकी यह एक विशेष बात है कि उस समय यदि राजसी-तामसी वृत्तिवाला पुरुष भी भगवान्‌का ध्यान करता हुआ या भगवान्‌के तत्त्वज्ञानको समझता हुआ प्रयाण करता है तो वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है । इसी प्रकार सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय भी परमात्माके तत्त्वका ज्ञान उसे सहज ही हो जाता है । वह बहुत ही उत्तम समय है, अन्त-कालके समान ही महत्त्वपूर्ण तथा सहज है । ऐसे समयमें विशेष सावधान होकर ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि यहाँ थोड़े साधनसे ही बड़ा काम हो जाता है । पर यह कैसे पता लगे कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका वह समय आ गया है ? इसके लिये भगवान् पहचान बताते हैं । वे गीतामें कहते हैं—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥
(१४ । ११)

'जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता (जागृति) और बोधशक्ति (ज्ञानशक्ति) उत्पन्न होती है, उस समयमें यह समझना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ।' उस सत्त्वगुणकी वृद्धिके समयमें मनुष्य परमात्माका ध्यान करता है या परमात्माके तत्त्वको जाननेका प्रयास करता है तो उसे बहुत शीघ्र लाभ हो जाता है । ऐसे अवसरपर भगवान्‌की कृपासे क्षणमात्रमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसे समय

मनुष्यको अपना समय वैराग्यपूर्वक ज्ञान और ध्यानमें ही बिताना चाहिये। या महात्माओंके सङ्गमें और उनके वचनोंको सुनकर उसीके अनुसार चेष्टा करनेमें लगाना चाहिये—उसीमें स्थित हो जानेका प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेसे क्षणमात्रमें ही ज्ञान हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है। यह एक बड़े महत्त्वकी बात है। जैसे अन्तकालमें परमात्माका ध्यान या चिन्तन करते हुए प्राण त्यागनेसे उत्तम-से-उत्तम गति मिल जाती है, वैसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें भी ऐसी बात हो जाया करती है। अतः जिस समय शरीरमें, मनमें, इन्द्रियोंमें, बुद्धिमें—सबमें जागृति हो, सबमें बाहर-भीतर—सर्वत्र चेतनता-सी प्रतीत हो और ज्ञान (बोध) की बहुलता हो, दुःखोंका अभाव हो, शान्तिकी प्रतीति हो और सात्त्विक सुखका अनुभव हो, उस समय ऐसा समझना चाहिये कि इस समय सत्त्वगुण बढ़ा है। ऐसी अवस्थामें परमात्माके ध्यानकी थोड़ी चेष्टा करनेपर भी बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

ऊपर बिजलीका उदाहरण दिया गया था, उससे यों समझना है कि जैसे बिजली लगकर तैयार है, पावर-हाउससे उसका सम्बन्ध भी हो गया है, तब स्विच दबानेके साथ ही क्षणमात्रमें रोशनी जल जाती है। वैसे ही साधन करते-करते मनुष्य जब एकदम तैयार हो जाता है, पात्र हो जाता है और भगवान्‌के साथ उसके मनका सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब उसे क्षणभरमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे बिजलीका स्विच दबाते ही क्षणभरमें प्रकाश होकर सारे अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही अपनी पूरी तैयारी होनेपर, पात्र हो जानेपर, योग्यता प्राप्त हो जानेपर थोड़े ही उपदेशसे क्षणमात्रमें ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माके ध्यानसे, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन—विचारसे, सत्पुरुषोंकी बातें सुननेसे और परमात्माकी कृपासे स्वतः ही हृदयमें जागृति होकर क्षणमात्रमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः योग्यता प्राप्त करना यानी अधिकारी होना ही तैयार होना है। यह योग्यता यानी पात्रता प्राप्त होती है—अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर। अतः अन्तःकरणकी शुद्धि होनेमें जो समय लगता है, वह तो लगता ही है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधनोंके द्वारा जब मल-विक्षेप-आवरणका नाश हो जाता है, तभी अन्तःकरण शुद्ध होता है। इस अवस्थामें जैसे स्विच दबानेमात्रसे ही रोशनी हो जाती है, अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही मल-विक्षेप-आवरणका अत्यन्त अभाव हो जानेपर क्षणमात्रमें ही परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है? इस विषयमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गी० १८।५५)

'पराभक्ति यानी परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे (ज्ञानकी परानिष्ठाको तत्त्वज्ञान कहते हैं, उस तत्त्वज्ञानसे) मुझ परमात्माको, मैं जैसा हूँ, जितना हूँ, जिस प्रकारका हूँ, अच्छी प्रकारसे जान जाता है। और मुझे यथार्थ रूपसे तत्त्वतः जानकर तत्काल ही वह मुझमें प्रवेश हो जाता है।' यह तैयारीकी बात है, तैयारी कब समझी जाय ? इसके लिये इसीके पूर्वका श्लोक है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(१८।५४)

'सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित पुरुष—ब्रह्मभूत पुरुष सदा प्रसन्नचित्त रहता है। वह न किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। चिन्ता, शोक तथा कामनाओंका अत्यन्त अभाव हो जाता है और सारे भूतोंमें अपने-आपको समभावसे देखता है, तब वह मेरी पराभक्ति-

को यानी ज्ञानकी परानिष्ठाको प्राप्त हो जाता है।' सर्वभूतोंमें समभावको देखना क्या है ? भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गी० ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योग अर्थात् जीवात्मा और परमात्माकी एकतारूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको संपूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है। और संपूर्ण भूतोंको आत्मामें अपने संकल्पके आधारपर स्थित देखता है। अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधारपर देखता है, वैसे ही वह पुरुष संपूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत देखता है अर्थात् सारे भूतोंमें अपने-आपको वास्तविक रूपसे देखता है।' यह है 'समदर्शन' इसीका फल है—'ज्ञानकी परानिष्ठा' और इसीका नाम है 'पराभक्ति'। इस पराभक्तिसे मनुष्य परमात्माको यथार्थ रूपमें जान जाता है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त सबके तत्त्वको वह समझ जाता है। वह फिर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। पर इसके पहले पूरी तैयारी हो जानी चाहिये। उस तैयारीके लिये इसके पूर्वके निम्न-लिखित तीन श्लोकोंके अनुसार बनना चाहिये, जिनमें ज्ञानकी परानिष्ठाके साधनोंका वर्णन है। वे श्लोक हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १८। ५१—५३)

'पापरूप मल-दोषसे सर्वथा रहित, विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, सात्त्विक धृतिके द्वारा अन्तःकरणको वश करके यानी मन-इन्द्रिय-शरीरको उन-उनके विषयोंसे हटाकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर करके, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रिय-विषयोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष तथा उनसे होनेवाले समस्त विकारोंको छोड़कर पवित्र एकान्त देशका सेवन करे; हल्का और अल्प सात्त्विक आहार करे; मन, वाणी, इन्द्रिय और शरीर—सबको जीत ले, अर्थात् उन्हें अपने अनुकूल बनाकर, उन्हें अपने इच्छानुसार साधन-कार्यमें ही लगावे। इस प्रकार करनेवाला पुरुष दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर निरन्तर ध्यानयोगमें स्थिर रहता है। क्योंकि वैराग्यसे अपने-आप ही उपरति होकर परमात्मा-के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है। इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त होनेपर वह पुरुष अहंकार, भौतिक बलका आश्रय, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रह—सांसारिक विषयोंका संग्रह—इन सब अन्तःकरणके विकारोंसे रहित होकर ममत्व आदि दोषोंसे छूटकर, संकल्प-विकल्पसे रहित शान्त अन्तःकरणवाला होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य (पात्र) बन जाता है।'

जब मनुष्य ध्यानमें स्थित हो जाता है, तब उसके हृदयके सब विकार नष्ट हो जाते हैं और उसके नाना प्रकारके विषयोंका भी अभाव हो जाता है। मलका अभाव तो पहले ही हो गया था, अब विक्षेपका भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार जब सारे दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह ब्रह्मकी प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। तदनन्तर उसकी स्थिति ब्रह्मके स्वरूपमें हो जाती है और जिसकी ब्रह्ममें स्थिति होती है, उसे कहते हैं 'ब्रह्मभूत'। ब्रह्मभूत होनेके बादकी स्थिति ऊपर बतलायी जा चुकी है। इस ब्रह्मभूत-अवस्थाका फल ही है—पराभक्तिकी—पराज्ञाननिष्ठा-की प्राप्ति। इस ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जाता है।

यह अज्ञानका नाश ही आवरण-दोषका नाश है। यों मल-विक्षेप-आवरणका नाश होते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये इस पराज्ञाननिष्ठाका फल साक्षात् परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है। इस प्रकार क्रमशः तैयारी करके पुरुष जब योग्य हो जाता है, तब क्षणमात्रमें ही उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, परमात्माको यथार्थरूपसे जानकर वह परमात्मामें तद्रूप हो जाता है।

स्वप्नसे जगकर तो पुरुष स्वप्नके संसारको पुनः-पुनः याद करके यह समझता है कि उस समय मेरी अपने शरीरमें 'अहंबुद्धि' और समस्त संसारमें 'इदंबुद्धि' थी, किंतु जागनेके बाद यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वह 'अहंबुद्धि' और 'इदंबुद्धि' कल्पनामात्र थी। किंतु यहाँ ज्ञानीकी दृष्टिमें तो यह कल्पना भी नहीं रहती। जब संसार ही नहीं है, तब 'अहं' कौन और 'इदं' कौन ? परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ज्ञानमार्गकी दृष्टिसे स्वप्नका जगा हुआ पुरुष तो स्वप्नके संसारको कल्पित—'स्वप्नवत्' समझता है, किंतु ब्रह्मके स्वरूपमें जगे हुए पुरुषके लिये तो यह संसार स्वप्नवत् भी नहीं है; क्योंकि स्वप्नसे जगे हुए पुरुषके तो मन-बुद्धि वे ही हैं, जो स्वप्नमें थे, इसलिये वह स्वप्नके संसारको 'स्वप्नवत्' समझता है; किंतु जब पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि यहीं इसी शरीरमें छूट जाते हैं। मन-बुद्धि-शरीर 'ब्रह्म' तक नहीं पहुँचते। फिर इसे स्वप्नवत् भी कौन कैसे देखे ? तथापि यह कहा जाता है कि ज्ञानीके लिये संसार 'स्वप्नवत्' है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब संसार है ही नहीं, तब स्वप्नवत् क्यों कहा जाता है ?' तो इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः उस ब्रह्मको प्राप्त पुरुषके लिये तो संसारकी स्वप्नवत् भी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि उसके लिये तो सृष्टि ही नहीं है; न दृष्टि है, न सृष्टि। वहाँ तो इसका अत्यन्ताभाव है। उसके लिये तो अपनेसे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और वह भी सदासे ही है। पर संसारमें जो उसका शरीर है, उस शरीरमें मन-बुद्धि-अन्तःकरण है। उस अन्तःकरणमें भी वस्तुतः संसारका, शरीरका और अन्तःकरणका अत्यन्त अभाव तथा परमात्माका भाव है, तथापि उसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उसके लिये अन्तःकरणसहित यह संसार स्वप्नवत् है। ऐसे महापुरुषकी महिमा कौन कह सकता है ? यह जो अनुभव है कि 'परमात्मा है', वही उसका प्रमाण है। सारे शास्त्र उन महापुरुषोंके अनुभव ही हैं। उन महापुरुषोंके सर्वथा प्रत्यक्ष अनुभवसे अधिक और प्रमाण हो ही क्या सकता है ?

अब परमात्माके विषयमें कुछ समझना है। परमात्माका एक स्वरूप है—सच्चिदानन्दघन 'निर्गुण निराकार' और दूसरा है—'सगुण साकार।' सगुणके दो भेद हैं—एक 'सगुण निराकार' और दूसरा 'सगुण-साकार।' सगुण-निराकाररूपसे जो सारे संसारमें व्याप्त हैं, उन्हें 'ईश्वर' भी कहते हैं और 'परमात्मा' भी। सगुण-साकाररूपसे वे दिव्यधाममें नित्य विराजित रहते हैं और समय-समयपर अपनी इच्छासे अवतार धारण भी करते हैं। वे सत्ययुगमें श्रीविष्णुरूपसे, त्रेतामें श्रीरामरूपसे, द्वापरमें श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुए थे।

'अजातवाद'को माननेवाले आधुनिक वेदान्ती महानुभाव एक 'ब्रह्म'के सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं मानते। उनका यह एक तत्त्व-वस्तुको मानना तो बहुत ही ठीक है, परंतु भगवान्‌के 'सगुण-निराकार-स्वरूप' जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं, जो सृष्टिकर्ता, सबका पालक, ज्ञाता, साक्षी और द्रष्टा है और जो दिव्य अवतार धारण करता है—उसके यानी परमात्माके इन स्वरूपोंके सम्बन्धमें उनकी मान्यता मेरी समझसे ठीक नहीं है। ईश्वरके स्वरूपको वे मायिक बतलाते हैं। वे कहते हैं कि 'प्रपञ्चका अभाव होनेपर सगुण-

निराकार और सगुण-साकारका भी अभाव हो जाता है। एक निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही वस्तुतः सदा रहता है।' परंतु वस्तुतः परमात्माके 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार'रूपका इस संसारकी तरह कभी अभाव नहीं होता। संसार मायाका प्रपञ्च है—जड है; परंतु परमात्माका सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप उनका अपना ही स्वरूप एवं चेतन है। हाँ, भगवान् जब अवतार लेते हैं, तब एक मायाका परदा अपनेपर अवश्य डाल लेते हैं, इसीसे उनका यथार्थ स्वरूप मूढोंको नहीं दिखायी देता। भगवान्ने गीतामें यही बात कही है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(७।२५)

'मैं सबको प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता हूँ; क्योंकि मैं योग-मायाका पर्दा अपनेपर डाले रहता हूँ। इसलिये मूढोंका समूह, मैं जो अजन्मा, अविनाशी परमात्मा हूँ, इस यथार्थ रूपको नहीं जानता।' अवश्य ही, भगवान् अपने श्रद्धालु प्रेमी भक्तोंके सामने इस योगमायाके पर्देको हटा लेते हैं, इसलिये भक्त उन्हें यथार्थ रूपमें जान—देख पाते हैं। भगवान् तो अपात्रों या मूढोंके लिये ही इस पर्देसे अपनेको ढकते हैं।

यहाँ यह समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप मनुष्योंका-सा है; इसीलिये उन्हें मानुषी-लीला करनेवाला माना गया है। भगवान् विष्णुका स्वरूप देवताका-सा है, उनके शरीरकी धातु देवताओंकी धातु-जैसी है। अतएव उनके दीख पड़नेवाले शरीर तो मनुष्यों और देवताओं-जैसे हैं, पर वास्तवमें वे दिव्य चिन्मय हैं; मायिक नहीं। वस्तुतः भगवान्का निर्गुण-निराकार स्वरूप ही 'सगुण-निराकार' और 'सगुण-साकार' रूपमें प्रकट है। इस बातको आधुनिक वेदान्ती महानुभाव नहीं मानते। वे इसके तत्त्व-रहस्यको नहीं जानते। भगवान्के जो दिव्य चिन्मय गुण हैं, उन्हींका प्रतिबिम्ब संसारपर सत्त्वगुणमें पड़ता है। हमें जो ये दैवी सम्पदाके गुण दिखायी देते हैं, ये मायिक हैं, पर सात्त्विक हैं। सत्त्वगुणमें जो गुण प्रतीत होते हैं, वे सब परमात्माके गुणोंके अंशमात्रके प्रतिबिम्ब हैं। जैसे चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दर्पणमें प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध अन्तःकरणमें ये सब गुणोंके रूपमें प्रतीत होते हैं, तथापि ये जड हैं, चेतन नहीं। किंतु जो भगवान्के गुण हैं, वे तो दिव्य और चिन्मय हैं।

परमपदपर कौन पहुँचते हैं ?

आब्रह्मसदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम्। शुभं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति तद्विदुः॥
न तत्र मूढा गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः। दम्भ-मोह-भय-द्रोह-क्रोध-लोभैरभिद्रुताः॥
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः। ध्यानयोगरताश्चैव तत्र गच्छन्ति साधवः॥
(पद्मपुराण भूमि० ९५। १५-१७)

ब्रह्मलोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परमपद है, वह शुभ, सनातन, ज्योतिस्वरूप है और उसीको 'परम ब्रह्म' कहते हैं। दम्भ, मोह, भय, द्रोह, क्रोध और लोभसे अभिभूत विषयासक्त अज्ञानी पुरुष वहाँ नहीं जा सकते। ममतारहित, अहङ्काररहित, द्वन्द्वरहित, इन्द्रियविजयी, ध्यानयोगमें सदा लगे हुए साधु पुरुष ही वहाँ जाते हैं।

वार-वार नहिं पाइये, मनुष-जनमकी मौज़

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी)

परात्कृतनमद्द्वन्द्वं परब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको तथा संत-महापुरुषोंको सादर अभिवादन कर यहाँ कुछ बातें कहनेकी चेष्टा करता हूँ। इन बातोंमें जो आपको अच्छी लगें, सुन्दर दीखें, उन बातोंको तो संत-महात्माओं-की, शास्त्रोंकी और भगवान्‌की मानना चाहिये तथा जो त्रुटियाँ हों, उन्हें मेरी। त्रुटियोंकी ओर ध्यान न देकर अच्छी बातोंकी ओर ध्यान दें; कारण, जो महापुरुषोंके और भगवान्‌के वचन हैं, वे मेरे और आपके लिये परम हित करनेवाले हैं। उन वचनोंके अनुसार आचरण करनेसे निश्चित कल्याण होता है। आप आचरण करेंगे तो आपका हित और कल्याण है तथा मैं करूँगा तो मेरा कल्याण है।

सबसे पहली एक विशेष ध्यान देनेकी बात यह है कि यह मानव-जीवनका समय बहुत ही दुर्लभ है और बड़ा भारी कीमती है। श्रीमद्भागवतमें बताया है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

'दुर्लभो मानुषो देहः'—यह मनुष्यसम्बन्धी देह—यह मानव-शरीर महान् दुर्लभ है। इसकी प्राप्तिके लिये बड़े-बड़े देवता भी ललचाते रहते हैं। ऐसा यह मानव-शरीर अत्यन्त ही दुर्लभ है; क्योंकि इसमें बड़ी-से-बड़ी उन्नति हो सकती है, परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जीवका कल्याण हो सकता है और सदाके लिये उसे परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे दुर्लभ शरीरको प्राप्त करके जो इसे व्यर्थ ही खो देता है, उसे फिर बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है; क्योंकि यह सर्वथा अलभ्य, अमूल्य अवसर है। अतः इस अवसरके एक-एक क्षणको ऊँचे-से-ऊँचे काममें बितानेकी चेष्टा करनी चाहिये। समयके समान कोई अमूल्य वस्तु नहीं है। संसारमें लोग पैसोंको बड़ा कीमती समझते हैं, आवश्यक समझते हैं, किंतु विचार कीजिये, जीवनका 'समय' देनेसे तो 'पैसे' मिल जाते हैं, पर पैसे देनेसे यह 'समय' नहीं मिलता। हमारे जीवनके लिये हमारे पास हजारों, लाखों, करोड़ों रुपये रहनेपर भी यदि हमारी आयु नहीं है तो हमें मरना पड़ता है; किंतु यदि हमारी आयु बाकी हो और हमारे पास एक भी कौड़ी न हो, तो भी हम जी सकते हैं। हमारे जीवनका आधार यह 'समय' है, न कि 'रुपया'। इतना होनेपर भी हमारे भाई लोगोंकी पैसोंमें तो बड़ी भारी आसक्ति, रुचि और सावधानी है। वे बिना मतलब एक कौड़ी भी खर्च करना नहीं चाहते; परंतु 'समय'की ओर ध्यान ही नहीं है। हमारा समय इतनी देर कहाँ लगा और कहाँ गया, इसमें हमने क्या उपार्जन किया, क्या कमाया, इस ओर हमारा खयाल ही नहीं है। बड़े आश्चर्यकी बात है! ठीक कहा है श्रीभर्तृहरिने—

'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।'

इस प्रमाद-मदिरासे उन्मत्तता छायी हुई है। नशेमें जैसे मनुष्यको अपने शरीरका, कपड़ोंका होश नहीं रहता, ऐसे ही इस विषयमें होश नहीं है, चेत नहीं है; इधर ध्यान नहीं है, लक्ष्य नहीं है। नहीं तो, ऐसे अमूल्य समयका इस प्रकार सत्यानाश क्यों किया जाता? समय जो निरर्थक ही चला जाता है, यही उसका सत्यानाश करना है। ऐसे अमूल्य समयको कीमती-से-कीमती काममें लगानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। क्या करें, विचार करनेसे मालूम होता है कि बहुत-से भाई तो ताश, चौपड़, खेल-तमाशेमें ही समयको लगा देते हैं; बीड़ी, सिगरेट, हुक्का, चड्स,

भाँग आदि नशेके सेवनमें इस समयको बर्बाद कर देते हैं तथा ऐसे ही हँसी-मज़ाकमें समय खो देते हैं । वे सोचते नहीं कि हम इस आयुमें उपार्जन क्या कर रहे हैं और खर्च कितना हो रहा है ।

समय तेजीसे जा रहा है और समयके बीत जाते ही मौत उसी क्षण आ जायगी । मृत्युमें जो देर हो रही है, केवल हमारे जीवनका समय शेष है, उसीके आधारपर । हम जी रहे हैं, यह बुद्धिके आधारपर नहीं, बलके आधारपर नहीं, विद्याके आधारपर नहीं; बल्कि समयके आधारपर, जीवनके आधारपर, आयुके आधारपर । वह आयु इतनी तेजीसे निरन्तर जा रही है कि इसमें कभी आलस्य नहीं होता, कभी रुकावट नहीं होती । यह लगातार दौड़ती चली जा रही है और हम बिल्कुल असावधान हैं । कितने आश्चर्य और दुःखकी बात है ! आश्चर्य इस बातका है कि बुद्धिमान् होकर हम इतनी हानि कर रहे हैं और दुःख इस बातका है कि परिणाम क्या होगा, और वह अपना परिणाम अपनेको ही भोगना पड़ेगा । इस भूल या दुःखका परिणाम और किसीको नहीं भोगना होगा । अतः बुद्धिमान् पुरुपको चाहिये कि वह जल्दी-से-जल्दी आध्यात्मिक उन्नतिमें अपने समयको लगावे । भर्तृहरिने कहा है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

जबतक स्वास्थ्य ठीक है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंमें साधन—भजन-ध्यान करनेकी शक्ति है, आयु समाप्त नहीं हो गयी है, विवेकी बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि तभीतक आध्यात्मिक उन्नतिके लिये बड़ा भारी प्रयत्न कर ले; क्योंकि जब घरमें आग लग जाय, तब कोई कहे कि जल्दी करो, कुआँ खुदवाओ, आग लग गयी है, जल चाहिये, जल्दी करो, तो यह सुनकर चाहे कितनी ही जल्दी की जाय, उद्योग किया जाय, किंतु अब कुआँ खुदकर कब जल आयेगा । आग तो बड़े जोरोंसे लग गयी है; इसलिये जल्दी-से-जल्दी अपने उद्धारके लिये चेष्टा करनी चाहिये । आध्यात्मिक उन्नतिके लिये देर नहीं करनी चाहिये । दूसरे जो सांसारिक काम हैं, ये आप करेंगे तो भी हो जायँगे और आप न करेंगे तो आपके बेटे-पोते इनको कर लेंगे, परंतु आपका कल्याण कौन-से बेटे-पोते कर लेंगे ? आपके पास हजारों-लाखोंकी सम्पत्ति है, बहुत धन है, बड़ा कारोबार है, किंतु आपका शरीर जाता है और पीछे कोई कुटुम्बी भी नहीं है तो जितना धन है, उसको राज्य सँभाल लेगा, आपकी मिलों-फैक्टरियोंको राज्य चला लेगा; पर आपके उद्धारमें कमी रहेगी तो उसको कौन-सा राज्य पूरी कर लेगा । यह काम दूसरेसे होनेवाला नहीं; इस कामको तो आप स्वयं ही करेंगे तभी होगा; इसलिये मनुष्यको चाहिये कि दूसरे जितने भी काम हैं, उनकी ओर ध्यान न देकर केवल एक आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ही ध्यान दे । नीतिकारोंने भी कहा है—

'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत् ।'

—करोड़ों कामोंको छोड़कर एक भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये । दूसरे मौके तो हरेकको मिल जाते हैं, पर यह मौका बार-बार नहीं मिलता ।

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः ।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी ॥

खाना, पीना, ऐश-आराम करना आदि तो मनुष्य क्या, पशु-पक्षियोंमें भी हो जाता है, परंतु आध्यात्मिक उन्नतिका अवसर मनुष्ययोनिके सिवा और कहीं नहीं है । इसलिये बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिये । आजतकका समय चला गया है, विचार करनेसे दुःख होता है । संतोंने कहा है कि भजनके विना जो दिन गये वे हमारे हृदयमें खटकते हैं । किंतु भाइयो ! अब क्या हो !

अब पछिताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।

समय चला गया, उसके लिये पछतानेसे क्या होगा, अब तो यही है कि 'गयी सो गयी, अब राख रहीको।' जो समय बचा है, उसी समयको सावधानीके साथ ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगानेकी विशेष चेष्टा करें तो आगे तो नहीं रोना पड़ेगा। हो गया सो हो गया, परंतु अब आगेके लिये पूरे सावधान हो जायँ, तब भी हमारा जीवन सफल हो सकता है।

आप कहेंगे कि इतने दिन चले गये, अब क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि अब भी निराश होनेकी बात नहीं है। जैसे कुएँमें बहुत रस्सी चली जाती है, पर एक हाथभर भी रस्सी यदि हाथमें रहती है तो उससे लोटेको कुएँसे बाहर निकालकर जल पी लेते हैं; पर यदि वह हाथभर भी रस्सी हाथमें नहीं रहती है, वह भी हाथमेंसे छूट जाती है तो फिर ऐसा नहीं है कि वह हाथभर ही नीचे जायगी, वह तो कुएँमें ही नहीं, कुएँके जलके भी नीचे तहमें चली जायगी। फिर तो उसे निकालनेके लिये बड़ी रस्सी चाहिये, काँटा चाहिये और जब बहुत देर मेहनत करेंगे, तब कहीं वह लोटा-डोरी मिलेगी। नहीं तो, बड़ी कठिनता है। ऐसे ही आजतककी आयु कुएँमें गयी। ऐसी गयी कि काम नहीं आयी; किंतु अब भी जो थोड़ी-सी उम्र शेष है, उसीको अच्छे काममें लगा दें तो हमारा मनुष्यजीवन सफल हो सकता है; पर *यदि आयुका यह बचा हुआ थोड़ा-सा समय भी* यों ही बीत गया तो फिर सिवा पश्चात्तापके और कुछ नहीं होगा। क्या पता है कि फिर यह मानव-जीवन कब मिलेगा।

बार-बार नहिं पाइये, मनुष-जनमकी मौज।

मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ बचे हुए समयको आध्यात्मिक उन्नतिमें विशेषरूपसे लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(५९)

'तुम्हारे इस लीलाविलासकी आड़में एक साथ मुझे दो वस्तुओंके दर्शन हो रहे हैं देव!'—स्रष्टा व्रजराज-कुमारके असमोर्ध्व ऐश्वर्य एवं माधुर्यके बीचमें झूलते हुए पुकार उठते हैं—'प्रभो! एक ओर तुम सर्वकारण-कारण हो, पर साथ ही उसी समय इस व्रजपुरमें, व्रजेन्द्र-सदनमें, व्रजराज-व्रजरानीके पुत्ररूपमें, उनके नीलसुन्दर होकर तुम्हारा जन्म है। तुममें समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव है, सच्चिदानन्दविग्रह हो तुम; पर साथ ही यहीं इस व्रजपुरमें ही, ओह! क्षुधाकी वेदनासे अभिभूत होकर क्रन्दन करते हुए तुमने जननीसे नवनीतकी याचना की है। प्रपञ्चके दोषोंकी गन्ध भी तुममें नहीं है, परम विशुद्ध हो तुम; फिर भी व्रजसुन्दरियोंके आवासमें जाकर तुमने नवनीतका अपहरण किया है। स्वयं आत्माराम होकर भी इन गोपशिशुओंके साथ मिलकर नित्य नवीन कौतुक-रचनाका लोभ तुम संवरण नहीं कर पाते। इस प्रकार एक ओर तो तुम प्रपञ्चसे सर्वथा अतीत हो, जगत्—जागतिक भावोंका कहीं किञ्चित्-मात्र कोई भी सम्बन्ध तुमसे नहीं है; तथापि ठीक उसी समय तुम्हारा जन्म है; दिवस, रजनी, पक्ष, मास एवं वर्षके अनुक्रमसे तुम्हारे श्रीअङ्गोंमें वृद्धिके दर्शन हुए हैं, होते हैं; क्षुधा, शिशुसुलभ चञ्चलता आदि अनेकों जागतिक भावोंके स्रोतसे सङ्क्रमित तुम्हारी लीलामन्दाकिनी प्रसरित होती रहती है—विश्वके इन समस्त भावोंके अनुरूप ही तुम सदा अपने लीलाविलासका विस्तार

करते रहते हो ! ऐसा इसलिये, नाथ ! कि अपने स्वजनों-के प्रति तुममें अपरिसीम कृपा भरी है। और इसीलिये जो एकमात्र तुम्हारे ही पादपद्मोंके आश्रित हैं, तुम्हारे चरणसरोरुहकी शीतल छायामें ही जिनका नित्य निवास है, उन अपने निजजनोंको, शरणागत भक्तोंको अपरिसीम अनन्त आनन्दका दान करनेके लिये ही तुम्हारी यह सब रचना है। उनका नित्य-निरन्तर आनन्दसंवर्धन करते रहनेके लिये ही तुम सर्वथा निष्प्रपञ्चका इस जगत्में भूतलपर अवतरण है, प्रापञ्चिक लोकव्यवहार-का, लीलाविलासका विस्तार है विभो !'—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३७)

रहित प्रपंच नाथ सब काला। पुनि अनुकरन करहु जिमि बाला ॥
जे प्रपन्न जन तिनके हेतू। लीला करि तिन कहँ सुख देतू ॥

'किंतु इस विषयमें ऊहापोहका मेरा यह प्रयास सचमुच कोई अर्थ नहीं रखता स्वामिन् !'—व्रजराज-कुमारकी अचिन्त्य महिमाके सम्बन्धमें पितामह कुछ भी 'इत्थम्भूत' निर्णय दे देनेसे शङ्कित होकर कहने लगते हैं—'तुम्हारा स्वरूप, ऐश्वर्य, माधुर्य, लीलाविलास—सब कुछ अचिन्त्य, अतर्क्य है प्रभो ! तुम्हें, तुम्हारे सम्बन्धमें मन-बुद्धिके द्वारा कोई भी कुछ भी जान ले, यह सम्भव नहीं है महामहिम ! यदि कोई तुम्हें जानते हैं—भगवत्-तत्त्व जान लेनेका किन्हींको अभिमान है, तो वे जानते रहें। क्या लाभ है उनके लिये बहुत-सी बातें कहकर उनकी मूढ़ताका प्रदर्शन करनेसे ! आवश्यकता भी नहीं है इस सम्बन्धमें बहुत बात बढ़ाने-की। बस, मैं तो अपने लिये कह सकता हूँ और इतना ही पर्याप्त है भगवन् ! सचमुच चतुर्वेदके आदिप्रवर्त्तक मुझमें, मेरे मनमें, मेरी वाणीमें, मेरे शरीरमें यह सामर्थ्य नहीं कि उसके सहारे तुम्हारी महिमाका ज्ञान प्राप्त हो जाय। मेरा मन तुम्हारे अचिन्त्य वैभवसिन्धुकी विन्दु-कणिकाका भी स्पर्श पा लेने योग्य नहीं स्वामिन् ! तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन कर लेनेपर भी मेरे चक्षु आदि इन्द्रियोंके लिये तुम अगोचर ही बने हो देव ! मेरी वाणी तुम अनन्तका यथार्थ प्रवचन कदापि नहीं कर सकती प्रभो !'—

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३८)

जो कोउ कहै प्रभु-बैभव जितौ। हम सम्यक जानत हैं तितौ ॥
जानहु ते जानहु जो जग चर। मो तैं तौ मन,बचन अगोचर ॥

× × × ×

कहत मूढ नर कोइ, प्रभु बैभव हम जानि सब।
तन मन बचनहु जोइ मो कहँ तव महिमा अगम ॥

अस्तु, इतनी देरतक किये हुए स्तवनके प्रभावसे अब स्रष्टापर व्रजराजकुमारकी कृपा विशेषरूपसे लहरा उठती है। जगत्-कर्तृत्व, जगदीशत्व आदि अभिमान तो कभीका विगलित हो चुका था, इस कृपावारिने उसके चिह्नतक धो दिये ! परम दैन्यकी सदाके लिये प्रतिष्ठा हो गयी वहाँ। व्रजेन्द्रनन्दनके नित्य दास होने-का विशुद्ध अभिमान जाग उठा। स्रष्टाकी समस्त धारणाएँ बदल गयीं। फिर तो और कुछ अधिक कहने-की, निवेदन करनेकी आवश्यकता ही कहाँ रही। हाँ, स्वामीकी अनुमति लेकर ही, पूर्ण समर्पण एवं निर्भरता-की भावनामें निमग्न होकर ही अपने स्थानपर लौटा जा सकता है। यही दासोचित आचार है और इसीका पालन करते हुए पितामह कहने लगते हैं—'श्रीकृष्ण-चन्द्र ! स्वामिन् ! अब मुझे आज्ञा करो, मैं अपने स्थान-पर ही केवल तुम्हारी सौंपी हुई सेवाका निर्वाह करनेके लिये लौट जाऊँ। अब और कुछ नहीं कहना है नाथ ! आवश्यकता ही नहीं है कहनेकी। तुम सर्वसाक्षी जो हो ! सब कुछ पहलेसे ही तुम जानते रहते हो भगवन् ! साथ ही यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुममें ही तो

अधिष्ठित है विभो ! एकमात्र जगन्नाथ तुम्हीं तो हो ! मेरे स्वामी भी तुम्हीं हो श्रीकृष्णचन्द्र ! आजतककी मेरी ममतास्पद, अहंतास्पद वस्तुएँ—मेरा जगत्, मेरा यह शरीर—सब कुछ तुम्हें ही समर्पित है हे मेरे परमाराध्य ! तुम्हारी ही वस्तुएँ तुम्हें अर्पित हैं भगवन् ! अब आगे मुझ दासके लिये मेरे शक्ति-सामर्थ्य, अधिकारके अनुरूप सर्वोत्तम व्यवस्था तुम स्वयं अपने-आप करोगे ही नाथ !'—

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३९)

जग अधीसको तजि अभिमाना । अज बोल्यो सुनु कृपानिधाना ॥
तुम सर्वज्ञ अज्ञ मैं नाथा । यातें विनय सुनिय जदुनाथा ॥
किंकर जानि नाथ निज मोही । आयसु कछु कीजै जिय जोही ॥

और अब अन्तमें वेदगर्भका यह बृहत् स्तवन सम्पुटित हो जाता है श्रीकृष्णनमस्कारसे ही । इसका उपक्रम भी हुआ था व्रजेन्द्रनन्दनकी चरणवन्दनासे; उपसंहार भी हो रहा है उनके ही पादपद्मोंमें प्रणामसे । पितामह अपना नमस्कार निवेदन करते हुए—कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं अनुभव करनेपर भी—दासोचित दीनतासे सनकर इतना और कह जाते हैं—'श्रीकृष्णचन्द्र ! अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे सबके चित्तको आकर्षित करनेवाले नीलसुन्दर ! मेरे मन-प्राण भी अब सदाके लिये आकर्षित होकर निमग्न हो जायँ इसी श्यामल-सौन्दर्य-सिन्धुमें । और जैसे यदुवंशरूप पद्म विकसित हुआ है तुम्हारे दर्शनसे ही, भुवन-भास्कररूप हो तुम इस वृष्णिकुलकमलको प्रस्फुटित कर देनेके लिये, वैसे ही तुम्हारी यह पद्मज-संतान मैं भी सतत प्रफुल्लित हो जाऊँ तुम्हारे कृपाकटाक्षको निहारकर । अहा ! तुम्हारे आविर्भावसे ही धरा, देवगण, द्विजवृन्द, धेनुसमूहरूप सागर उद्वेलित हुआ है, इन्हें तुमने अपूर्व समृद्धिका दान किया है, इनकी अभिवृद्धिके लिये तुम चन्द्ररूप हो गये हो प्रभो ! अतएव मुझ देवाधमका संवर्धन भी तुम नन्दकुलचन्द्रके द्वारा ही सदैव होता रहे, यह उचित ही है नाथ ! प्रभो ! पाखण्डधर्मरूप रजनीके घोर अंधकारको विनष्ट कर देनेके लिये तुम सूर्यरूप हो, चन्द्ररूप हो । मेरा हृत्तल भी अब सदाके लिये आलोकित रहे तुम्हारे दक्षिणनेत्ररूपी सूर्यदेवकी निर्मल रश्मियोंसे, मेरा कण-कण उद्भासित बना रहे इस वामदृग्रूप चन्द्रकी शुभ्र ज्योत्स्नासे, जिससे कि मैं फिर कभी भ्रान्त न हो सकूँ; कभी अपने स्वामीपर मायाविस्तार करनेकी, अपने प्रभुके प्रति पाखण्ड रचनेकी वृत्ति मेरी चित्तभूमिमें उदित न हो सके, यह तिमिर कदापि प्रविष्ट न हो सके मेरे मानसतलमें । स्वामिन् ! पृथ्वीके भार होकर उत्पन्न होनेवाले राक्षसोंका विमर्दन करनेवाले हो तुम; ऐसा सूर्यके समान दुष्प्रधर्ष तेज है तुम्हारा । किंतु इनसे द्रोह करके भी तुम इन्हें सुदुर्लभ अपनी गतिका ही दान करते हो दयामय ! कितनी अनुकम्पा भरी है इस दण्ड-विधानमें ! बस, तुम्हारा यह तेज सदा मुझे भी अभिभूत किये रहे । तुम्हारी कृपासे परिपूर्ण यह शासन मुझपर भी अनन्तकालतक बना रहे । ब्रह्मराक्षसके तुल्य ही आचरण करनेवाला—तुम्हारे प्राणस्वरूप पार्षद गोपशिशु एवं गोवत्सोंसे विद्रोह करनेवाला सत्यलोकका यह उच्छृङ्खल दास भी सदा इस शासनरूप अनुग्रहकी छायामें ही स्थित रहे । हे महामहिम ! महान्-से-महान्के लिये सूर्य-चन्द्र-जैसे अत्यन्त तेजस्वी देवगणके लिये—सबके लिये तुम परम पूज्य हो । सभी निरन्तर तुम्हारी पूजा ही करते हैं । मेरी पूजा भी अङ्गीकार हो जाय स्वामिन् ! बस, इतनी-सी पूजा—मेरे जीवनके शेष क्षणतक, महाकल्प-पर्यन्त तुम्हारे पादपद्मोंमें मेरा असंख्य प्रणाम स्वीकृत होता रहे भगवन् !'—

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४०)

इतनी माँगत अहो अनंत। बंदन करौं कल्प परजंत ॥

× × ×

जदुकुल जलरुह नवल इव, ताहि सुखद जनु सूर।
धेनु बिप्र छिति सिंधु हित, सुखकर जनु विधु पूर ॥
छिति पर निसिचर घोर, कंसादिक तम सरिस जग।
तिन कहँ रवि कर जोर, तुम नासे प्रभु छिनक महँ ॥
जग पाखंड धर्म तम भारी। तिन कहँ रवि ससि सम असुरारी ॥
तरनि आदि जगतेज जहाँ ते। तव कटाच्छ लहि भास तहाँ ते ॥
बार बार प्रभु विनवौं तोही। करेउ अनुग्रह अतिसै मोही ॥

इस प्रकार पितामहके स्तवनका विराम हुआ। और तब उनके आठों नेत्र व्रजराजकुमारके मुखचन्द्रसे जा लगे। वहाँ तो सदा सबके लिये—जो भी कातर होकर आँखें उठाता है, उसके लिये परम आश्वासन भरा ही है। अनादिकालसे अबतक किसे निराशा मिली है नीलसुन्दरके उन सलोने दिव्य दृगोंसे? इसीलिये स्रष्टाके प्राण भी शीतल हो गये। किंतु अब उन्हें शीघ्रातिशीघ्र इस स्थलका परित्याग कर देना है, यह संकेत भी प्राप्त हो चुका है। इसीका अनुगमन वे करते हैं। अपूर्व लहराती हुई भक्तिके आवेशमें वे भूमापुरुष बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी तीन बार परिक्रमा करते हैं; यह सम्पन्न होनेके अनन्तर उनके पादपद्मोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते हैं। बस, अब उन्हें यहाँसे चलना है अपने गन्तव्य स्थान सत्यलोककी ओर। इसीके लिये मौन आदेश है महामहेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रका। किंतु ठीक इसी क्षण प्राणोंमें एक स्नेहार्द्र स्पन्दन होने लगा—'अधिक नहीं दो एक शब्द भी प्रभुके मुखारविन्दसे मेरे लिये निःसृत हो जाते, अहा! श्रवणेन्द्रिय सदाके लिये कृतार्थ हो जाती।' कहना नहीं है कि वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजराजकुमार अपने नाममात्रके भृत्योंके सूक्ष्मतम, नगण्य-से-नगण्य मनोरथका भी कितना आदर करते हैं। और चतुर्मुख तो आज अपना सर्वस्व न्यौछावर कर उनके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं। उनके प्राणोंकी यह वृत्ति असफल लौट आये, सो भी व्रजेन्द्रनन्दनके मुखचन्द्रकी ओर ताककर—यह तो सर्वथा असम्भव है। देखते-ही-देखते बाल्यवेशके अन्तरालसे प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रका अनन्त ऐश्वर्य झाँककर स्रष्टाके कर्णपुटोंमें पीयूषसागरका सृजन कर देता है। पितामहके नेत्र तो स्थिर हैं श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंके कम्पयुक्त स्मितपर तथा श्रोत्रोंमें भर रही है उनकी सुधास्यन्दिनी वाणी। स्रष्टा एक बार तो स्तब्ध हो गये; पर प्राणोंको वाञ्छित प्राप्त हो गया। व्रजराजकुमारने स्रष्टाके उद्देश्यसे इतना-सा कह ही दिया—

तुम ज्ञाता सब धर्म के, तुम तैं सब संसार।
मेरी माया अति अगम, कोउ न पावै पार ॥
श्रीमुख बानी कही बिलँब अब नैकु न लावहु।
ब्रज परिकर्मा करहु देह कौ पाप नसावहु ॥

ओह! इस समयकी अनुभूति उनके वेदज्ञानके आधारपर निर्मित किसी भी शब्दसे तो व्यक्त होनेसे रही। फिर तटस्थ कोई कहे तो क्या कहे? सचमुच कुछ ऐसा-सा हुआ, मानो पितामहके मन-प्राण विलीन हो गये वहीं, उस वृन्दाकाननके आकाशमें, उन श्रीकृष्णचन्द्रके सुधारसपूरके समान कतिपय शब्दोंकी तरङ्गोंमें। मन-प्राणकी छायामात्र अवशिष्ट रही स्रष्टाके उस कलेवरमें, जिन्हें लेकर वे सत्यलोककी ओर चल पड़े—

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः।
नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४१)

बार बार परिकर्मा दै कै। सुंदर बदन बिलोकन कै कै ॥
चल्यौ नाथ कौं माथ नवाइ। अधिकारी पै रह्यौ न जाइ ॥

× × ×

एहि विधि विधि अस्तुति बहु करेऊ।
तीनि प्रदच्छिन करि पग परेऊ।
प्रभु स्वरूप निज हिय महँ राखी।
भवन गयो बहु विनती भाखी।

इतना ही नहीं, व्रजराजकुमारकी अपरिसीम कृपाका एक निदर्शन पितामहको और भी प्राप्त हुआ था—

जिसे वे उनके समक्ष उपस्थित रहते समय जान नहीं पाये, देख नहीं सके। कैसे, कब हुआ, इसकी मीमांसा तो सम्भव नहीं हुई। किंतु जब जगद्विधाता व्रजराज-कुमारके चरणप्रान्तसे चलकर, वृन्दारण्यकी, व्रजपुरकी प्रदक्षिणाकर स्वधाम—सत्यलोकके पथमें अग्रसर हो रहे थे, उस समय उन्हें दीखा—वृन्दावनविहारी नील-सुन्दरने अपने वक्षःस्थलको सुशोभित करनेवाली वनमाला उनके उरपर झुला दी है—

करि अस्तुति ब्रह्मा चले हरि दीन्हौ उर हार।

इस वनमालाके दर्शनसे स्रष्टाकी क्या दशा हुई, इसे कौन बतावे? इसे वे ही जानते हैं और जानते हैं अन्तर्यामी। शरीरमें अवशिष्ट वह चेतनाकी छाया भी मानो पुनः लौट आयी व्रजपुरकी रजकणिकामें ही समा जानेके लिये। किंतु सृजन-व्यवहारका निर्वाह भी तो अनिवार्य है। महाकल्पके मध्यमें अनादिकालसे आजतक किसी भी ब्रह्माका परिवर्तन हुआ जो नहीं। इसीलिये व्रजराजनन्दनकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने स्रष्टामें समयोचित धैर्यका विकास किया। वे प्रकृतिस्थ कर दिये गये। अवश्य ही अभी भी उनका अणु-अणु पुकारता जा रहा है—

धनि बछरा धनि बाल जिनहिं तें दरसन पायौ।
उर मेरौ भयो धन्य कृष्न माला पहिरायौ॥
धनि जसुमति जिन्ह बस किये अबिनासी अवतारि।
धनि गोपी जिनकैं सदन, माखन खात मुरारि॥
धनि गोपी धनि ग्वाल, धन्य ये ब्रजके बासी।
धन्य जसोदा-नन्द भक्ति-बस किय अबिनासी॥
जोगी जन अवराधि फिरत जिहिं ध्यान लगाये।
ते ब्रजबासिनि संग फिरत अति प्रेम बढ़ाये॥

इधर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपने अनन्त ऐश्वर्यके आवरणको वहीं, पूर्वकी भाँति, बाल्यावेश-रससिन्धुकी ऊर्मियोंमें ही डुबाकर उन्मुक्त विहार करने लग जाते हैं, उन लहरोंमें ही अवगाहन करने लगते हैं। बङ्किम नयनसरोजोंमें गोवत्सोंकी प्रतीक्षा झाँकने लगती है। एक वर्ष पूर्व जैसे उस दिन गोवत्स-अन्वेषणके प्रयाससे उनके सुन्दर भाल एवं सुचिक्कण कपोलोंपर प्रस्वेद-बिन्दुके दर्शन होने लगे थे, ठीक वैसी ही शोभासे श्रीकृष्णचन्द्रका मुखचन्द्र रञ्जित हो उठा। किंतु अब तो पट-परिवर्तन हो चुका था, दूसरे दृश्यकी अवतारणा अपेक्षित है। अतएव अविलम्ब वे सर्वथा सामनेके ही तृणसंवलित सुविमल भूभागकी ओर देखने लगते हैं और तुरंत उन्हें दीख जाता है—'अहा! यह रही गोवत्सराशि! नवतृणाङ्कुरोंका आस्वादन ले-लेकर ये मेरे वत्स-समूह परमोल्लासमें भरे कितने हर्षसे सञ्चरण कर रहे हैं!'—

भुवि सुविमलायां नवतृणाङ्कुराचामोदारमोदा रभसेन चरन्ती पूर्ववत्सा वत्सावलिरथ रथचरण-पाणिना ददृशे। (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

पितामहके द्वारा स्थानान्तरित किये हुए, किसी निभृत गिरिगह्वरमें स्थापित वे गोवत्स तुरंत वहाँ कैसे आ गये—इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि एक ओर पितामह रङ्गमञ्चसे अदृश्य होने चले, तथा दूसरी ओर व्रजेन्द्रनन्दन श्री-कृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाने उन अनन्त गोशावकोंको उस मृदुल तृणमयी भूमिपर उपस्थित कर दिया, उनपरसे अपनी छाया अपसारित कर ली और वह वत्ससमूह पहलेके समान ही—सर्वथा एक वर्ष पूर्वकी, उस क्षणकी मुद्रा एवं स्वभावमें अवस्थित होकर ही—वहाँ घूमने लग गया। इतना ही नहीं, वे असंख्य गोपशिशु भी वहीं तरणितनयाके पुलिनपर उसी प्रकार विराजित कर दिये गये। भावसमाधिसे जागे हुए उन शिशुओंके नेत्रोंमें भी वैसे ही उनके कन्हैया भैया भर आये, सर्वथा वैसे ही वे देखने लग गये—'अरे, वह देखो, वहाँ है कन्नू, उस तमाल-श्रेणीके अन्तरालमें!' साथ ही पुलिनका सूक्ष्मतम अंशतक पूर्ववत् साज-शृङ्गारसे सुसज्जित हो उठा। वे शृंग, वेणु, वेत्र, छींके, वे कमलपत्र, कमलदल

आदिसे निर्मित भोजनपात्र, और तो क्या, विविध फलोंसे निकाले हुए, दूर निक्षिप्त हुए छिल्केतक—सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों यथास्थान व्यक्त हो गयीं।

अब एक बार वहाँका समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो उठता है श्रीकृष्णचन्द्रके सुमधुर वंशीरवसे। तृण चरते हुए उन असंख्य गोवत्सोंके कर्णपुटोंमें भी यह झङ्कृति जा पहुँचती है। वास्तवमें इस समय वंशी बजी ही है उनके उद्देश्यसे, उनका आह्वान करनेके लिये, उनको एकत्र कर लेनेके लिये। अपने चिरपालकके संकेतोंसे वे सर्वथा परिचित भी हैं। इसीलिये क्षण-भरका भी विलम्ब नहीं होता। ओह! अर्द्धचर्वित तृणाङ्कुर मुखसे फेंक-फेंककर वे सब-के-सब श्रीकृष्णचन्द्र-के समीप आकर उन्हें वेष्टित कर लेते हैं। और तब व्रजेन्द्रनन्दन भी उनको लेकर—जहाँ एक वर्ष पूर्व वे अपने सखा गोपशिशुओंके साथ वन-भोजनके परमानन्दमें विभोर हो रहे थे—उस यमुनापुलिनपर ही चले आते हैं—

ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान्।
वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४२)

कालमानसे एक वर्षकी अवधि समाप्त हो चुकी है, इतने समयके पश्चात् वे गोपशिशु अपने जीवनसर्वस्व प्राणाधार श्रीकृष्णचन्द्रसे मिल रहे हैं। किंतु उन्हें तो यही अनुभूति है कि आधा क्षण बीतते-न-बीतते उनके कन्हैया भैया गोवत्सोंको ढूँढ़कर साथ लिये वहाँ उनके समीप आ पहुँचे हैं। वर्षव्यापी श्रीकृष्णवियोगकी गन्ध-तक उन्हें नहीं मिली; क्योंकि योगमायाशक्तिके अमित प्रभावसे उनके ज्ञानका वह अंश आवृत हो चुका था। ऐसी कल्पना उदय होनेतकके द्वार रुद्ध कर दिये गये थे। कालजनित अवश्यम्भावी परिणामपर भी योगमायाने अपनी तूलिका फेर दी थी। बालकोंकी भोजन-सामग्री, मोदक, शाक, व्यञ्जन आदि भी पर्युसित न हो सके, सर्वथा अविकृत ज्यों-के-त्यों वे सब-के-सब हैं। पुष्प-पल्लवरचित भोजनपात्रोंकी चमक-दमक भी वैसी ही है, यहाँतक कि उनके मुखके अर्द्धचर्वित ग्रासका स्वाद भी वैसा ही बना है। कोई चिह्न नहीं जिसके आधार-पर वे इस वियोगका आभास पा ले सकें। फिर भी इसमें विस्मयके लिये कोई स्थान नहीं। प्राकृत मन भले ही श्रीकृष्णचन्द्रकी योगमायाके अनन्त अघटनघटन-सामर्थ्यका अनुसन्धान पानेमें कुण्ठित हो जाय, उस चिन्मय वैभवके कणमात्रको भी छू लेनेमें सदा असमर्थ बना रहे; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी दुरत्यय गुणमयी माया-शक्तिके प्रभावसे तो वह चिरपरिचित है ही। ओह! उससे मोहित हुए जीव यहाँ क्या-क्या नहीं भूल जाते? जगत्के समस्त जीवोंकी कैसी दशा है! अनादि बहिर्मुखताके कारण इसी मायासे वे सब-के-सब मोहित हो रहे हैं, मोहित होकर अपने आत्मस्वरूपको ही भूले हुए हैं तथा इसी आत्मविस्मृतिका यह परिणाम है कि देहको 'मैं' एवं पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, विषय-सम्पदा-को ही 'मेरा' अनुभव कर वे अशेष भवयन्त्रणाकी पीड़ा निरन्तर सह रहे हैं! अनन्त शास्त्र अपने आलोकका दान कर रहे हैं जीवोंकी अनादि अज्ञान-रात्रिका तिमिर हर लेनेके लिये। अगणित आचार्य संत-महन्त द्वारपर आते हैं अज्ञाननिद्रासे जगाकर उसे प्रबुद्ध कर देनेके लिये। पर जीवकी मोहनिशा समाप्त नहीं होती, वह जागता नहीं। आँखें खोलकर वह देखता नहीं, महाप्रबोधको सुनकर भी उसे अपने स्वरूपकी अनुभूति नहीं होती, इतना समझानेपर भी वह निरन्तर अपने-आपको भूले ही रहता है। ऐसा दुरन्त प्रभाव है श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बहिरङ्गा मायाशक्तिका ही। फिर उनकी योगमायाके विलासका—उनकी अन्तरङ्गा शक्ति-की महामोहनताका रूप कितना अद्भुत है, हो सकता है, यह कौन कह सकता है? जो हो, व्रजेन्द्रनन्दनकी योगमायाके महाप्रभावसे ही गोपशिशुओंको इस श्रीकृष्ण-

विच्छेदका अनुभव ही नहीं हुआ तथा एक वर्षकी अवधि उन्हें क्षणार्धमात्र प्रतीत हुई—

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः ।
कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥
किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।
यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४३-४४)

बीत्यौ जदपि बरष इक काल, बिछुरे सुंदर मोहनलाल ।
तदपि अर्द्ध छिन मानत भये, अद्भुत प्रभुकी माया छये ॥
कवन कवन माया नहिं भूले, जगत-हिंडोरे बड्डे झूले ।
ये कछु माया करि नहिं मोहे, प्रभुकी इच्छा करि अति सोहे ॥

किंतु उनके अनुभवका वह आधा क्षण ही उनके समस्त आनन्दोच्छ्वासको प्रशमित कर देनेके लिये पर्याप्त था । भोजन करते-करते बीचमें ही उनके प्राणाराम कन्नू भैयाका उन्हें छोड़कर चला जाना साधारण घटना नहीं है । यद्यपि निर्निमेष नयनोंसे वे मानो सतत देख-से भी रहे थे अपने कन्हैया भैयाको ही, पर पुलिन-भोजनके उल्लासका स्रोत तो सर्वथा रुद्ध हो चुका था । इसीलिये अब इस समय जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उनके समीप आते हैं कि बस, प्रत्येक शिशुकी धमनीमें तड़ित्-लहरी-सी दौड़ जाती है । ओह ! उनके प्राणोंकी वह उत्कण्ठा, नीलसुन्दरके स्वागतकी प्रेमिल त्वरा, उनके रोम-रोमसे प्रसरित आनन्दकी वह कल्लोलिनी— श्रीकृष्णचन्द्र तो बहने-से लग जाते हैं इसी धारामें ! एक साथ समस्त शिशु अपने-अपने आसनसे उठ पड़ते हैं । किसीने नीलसुन्दरके करपल्लवको अपने हाथमें लिया । एकने उनकी ग्रीवामें अपनी भुजाएँ डाल दीं; उसके युग्म करतल विभूषित हैं अन्नग्राससे, मुट्ठियाँ बँधी हैं और वह झूल रहा है अपने कन्हैया भैयाके कण्ठदेशमें ! कुछ शिशुओंने पीत दुकूलके भिन्न-भिन्न अंश धारण कर लिये । कैसे हुआ, इसका समाधान बहिर्मुख मन तो पानेसे रहा, पर सचमुच हुआ यह कि क्षणमात्र पूर्ण होनेसे पूर्व ही वे असंख्य शिशु अपने प्राणसखाके श्रीअङ्गोंसे जा चिपटे; सबने स्पर्श पा लिया, प्राणोंकी प्रथम ललक पूरी कर ली । श्रीकृष्णचन्द्र भी उनके मध्यमें विराजित रहकर, स्वयं भी इस अप्रतिम सख्य-रस-सुधाका अविराम पान करते हुए झूम रहे हैं; तुमुल आनन्दकोलाहलके नादसे निनादित होकर वहाँकी वनस्थली भी झूम रही है । चर, अचर, स्थावर, जङ्गम सभी स्पन्दित हो रहे हैं । अस्तु, मिलनसुखका आवेग शान्त होनेसे पूर्व ही कतिपय वयस्क शिशु अतिशय उतावले होकर बोल उठे—'अरे भैया कन्नू ! तुम भले आये । आशा नहीं थी, पर तुम तो इतनी शीघ्रतासे वत्सोंको लेकर लौट आये कि क्या कहें !' इतनेमें तोक अतिशय सरस स्वरमें कहने लगता है—'इसीलिये तो मैंने स्वीकृति दी थी, मैं तो जानता ही था कि कन्हैया भैयाने वंशी बजायी और बस, तरुश्रेणीकी ओटमें बिखरे हुए, दूर चले गये गोवत्स दौड़कर बाहर आ जायँगे, मिल जायँगे और तब हमलोग कन्हैया भैयाके साथ भोजन करेंगे ।' फिर तो अपने प्राणोंका समस्त प्यार लेकर सभी शिशु एक स्वरमें पुकार उठते हैं—'भैया रे ! आ जा, देख ले, तेरे बिना एक भी ग्रास हम अपने मुखमें न रख सके । और यह ले, आह ! अबतक तूने भी एक कौर नहीं खा पाया, हाथका ग्रास हाथमें लिये ही तू लौट आया । नहीं-नहीं, अब तनिक भी विलम्ब मत कर, चल, अब सुखपूर्वक भोजन तो कर ले ।'

ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४५)

मोहे से तब कहत हैं बाल, बेगि ही आये मोहनलाल।
एकौ कवल न पावन पायौ, भैया तो बिनु जाइ न खायौ ॥
तैं हूँ तो हम बिन नहिं खायौ, हाथ कवल वैसैं ही आयौ ।
आवहु बैठहु भोजन करैं, इत ये बच्छ कच्छ मैं चरैं ॥

शिशुओंकी इस उक्तिके उत्तरमें श्रीकृष्णचन्द्रके अरुणिम अधरोंपर एक समुज्ज्वल हास भर जाता है—

जब ऐसैं बोले ब्रजबाल, बिहँसन लागे नँदके लाल ।

भुवनभास्कर पश्चिम गगनमें ढल चुके हैं। श्रीकृष्णचन्द्र कलिन्दनन्दिनीके उस पुलिनपर, अपने पूर्वके आसनपर ही सखाओंसे आवृत होकर उनके साथ भोजन करते हैं! परमानन्दमें भरकर शिशु अपने इच्छित भोजनद्रव्योंको पूर्वकी भाँति ही कन्हैया मैयाके हाथपर, मुखमें रखते जा रहे हैं और बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्र, उनकी प्रीतिके उपहारका रस लेते हुए, सराहना करते हुए हँस-हँसकर भोजन कर रहे हैं; साथ ही अपनी रुचिकी खाद्य वस्तु अपने सखाओंके होठोंपर रखकर सुखसे विभोर होते जा रहे हैं—

ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः।
(श्रीमद्भा० १०। १४। ४६)

मंडल करि बैठे पुनि आछे,
जैसें बान बन्यौ हो पाछे।
अति रुचि सौं मिलि भोजन कर्यौ,
इहि विधि वा विधि कौ मद हर्यौ॥

उधर सत्यलोकमें अभी भी स्रष्टाकी विचित्र ही दशा है। वे ब्रह्मपदके आसनपर आसीन अवश्य हैं, किंतु उनके सामनेसे इस समय 'तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः'—इन लोकोंका व्यवधान अन्तर्हित हो चुका है और वे व्रजराजकुमारके पुलिन-भोजनके प्रत्यक्ष दर्शन पा रहे हैं। पुनः उनका धैर्य शिथिल हो गया है एवं प्राणोंमें एक रसमय हाहाकारकी लहर-सी उठ रही है—'आह! कदाचित् मेरा कौएका शरीर होता! फिर तो मेरे सौभाग्यकी सीमा नहीं रहती! प्रभु व्रजराजकुमारके अधरामृतसे सिक्त दधिमिश्रित इन बिखरे हुए अन्नकणोंको अपनी चोंचसे चयनकर, इस सुविमल दिव्यातिदिव्य सीथ प्रसादसे उदरपूर्ति करके मैं कृतार्थ हो जाता।'

सीथ जु परैं दही-रस भरे, सदन जाइ विधि लालच खरे।
काक न भयौ फिर्यौ इतरातौ, चुनि चुनि सुंदर सीथन खातौ॥

कुरुक्षेत्रमें अर्जुनका मोह

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

कुरुक्षेत्रका समराङ्गण संसारक्षेत्रकी एक सुस्पष्ट प्रतिच्छवि है। देशमें, कालमें सीमाहीन असंख्य प्रकारके जीव-जडसे समन्वित यह विशाल संसारक्षेत्र वस्तुतः ही एक युद्धक्षेत्र है। प्रत्येक जीवको युद्ध करके ही बचना होता है, युद्ध करके ही जीवनका विकास-साधन करना पड़ता है। युद्धके द्वारा ही जीवसमूहमें विचित्र शक्तिकी अभिव्यक्ति होती रहती है। संग्रामक्षेत्रमें विजयलाभ और आत्मप्रतिष्ठाकी प्रचेष्टासे ही उनमें विचार-शक्तिका विकास होता है; नाना प्रकारके गुणोंका भी अभ्युदय होता है। जीवसमूह जन्म ग्रहण करके ही नानाविध प्रतिकूल शक्तिपुञ्जोंके साथ जीवन-संग्राममें प्रवृत्त हो जाता है। इस संग्राममें विजयी होकर संसारमें आत्मप्रतिष्ठा करनेके उद्देश्यसे ही सब जीवोंको संघबद्ध होना पड़ता है। उसी सम्बन्धमें समजातीय जीवोंमें आत्मीयताका बन्धन क्रमशः दृढ़ होता है। इसी भावसे उन्नततर जीवमें परिवार, समाज और जातीयताकी सृष्टि होती है। इस संग्राममें जो अशक्त होते हैं; जिनकी जीवनीशक्ति, आत्मरक्षा और आत्मप्रतिष्ठाकी शक्ति इस संग्रामके अनुपयुक्त होती है, वे पिसे जाते हैं, संसारक्षेत्रमें क्रमशः वे विलुप्त हो जाते हैं। सृष्टि-प्रवाहमें उनका कार्य समाप्त हो गया, और उनका अस्तित्व अनावश्यक हो गया—यह समझना होगा। यह युद्ध विश्व-संसारका अन्यतम धर्म है।

इस जीव-जगत्का विधान ही ऐसा है कि यहाँ एक दूसरेका खाद्य है। एकजातीय जीवके विनाशपर अन्यजातीय जीवका जीवन-धारण निर्भर करता है। स्थावर जीव जङ्गम जीवके खाद्य हैं, क्षुद्र जीव बृहत् जीवोंके खाद्य हैं, दुर्बल प्राणी अपेक्षाकृत सबल प्राणियोंके खाद्य हैं। इसी कारण जीव-जगत्में विभिन्न श्रेणीके जीवोंमें अनवरत संग्राम चलता है। इस संग्रामके भीतरसे ही व्यष्टिभावमें और समष्टिभावमें जीव-जगत्में क्रमविकास होता है। दुर्बलतर जीवोंको नष्ट करके प्रबलतर जीवजातिका उद्भव होता है, एवं इस प्रचेष्टामें उनकी शक्ति तथा कौशल और भी वृद्धिको प्राप्त होते हैं। प्रबल पशुओंके बीच भी युद्धविग्रहका अभाव नहीं है। एक वनमें दो सिंहोंका निवास कष्टकर होता है।

बुद्धि-शक्ति-सम्पन्न मनुष्यजातिने अन्यान्य सकल जातीय प्राणियोंको बुद्धिशक्तिके प्रभावसे संग्राममें पराभूत करके पृथ्वीपर अपना राजत्व प्रतिष्ठित किया है। मनुष्यके डरसे दाढ़, नख और पूँछोंवाले भीषण आकारवाले जीवोंने भी वन, जंगल, पर्वत-गुफाका आश्रय लिया है। मनुष्य अस्त्र-शस्त्र-से सुसज्जित होकर उन छिपे स्थानोंमें भी उनपर आक्रमण करके अपनी संग्रामप्रीति और विजयवासनाको चरितार्थ करता है। फिर मानव-जगत्में भी प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिवार, प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति अपने-अपने जीवनकी रक्षा, प्रभाववृद्धि तथा गौरव-प्रख्यापनके निमित्त दूसरोंके साथ संग्राममें प्रवृत्त होता है। जो जाति इस संग्राममें विजय-पताका उड़ानेके लिये जितना ही अधिक उपकरणोंके उद्भावन और संग्रह करनेमें समर्थ होती है, वह जाति उतनी अधिक प्रभावशाली मानी जाती है। इस आत्मप्रतिष्ठा और पर-पराभवकी चेष्टामें कितने ज्ञान-विज्ञानका उत्कर्ष होता है, कितनी प्राकृतिक शक्ति मनुष्यके हाथों लगती है, कितने यन्त्रोंका आविष्कार होता है, कितने शिल्प-वाणिज्यका विस्तार होता है। इन सबके मूलमें जीवन-संग्राम ही तो है। इस प्रकार प्राणिसाधारणके संग्रामके अतिरिक्त मनुष्यके बुद्धि-राज्यमें अन्य अनेक प्रकारके संग्राम चलते हैं। आदर्शके सहित आदर्शका युद्ध, भावके साथ भावका संग्राम, मतके साथ मतका संग्राम इत्यादि। मानव-जातिकी जीवनधाराके ऊपर इन सब आदर्श, भाव और मतोंका संघर्ष और संग्राम विशेष परिमाणमें प्रभाव-विस्तार करता है। मानव-जगत्में एक-एक आदर्श, भावधारा और मतकी प्रतिष्ठाके लिये भी अनेक समय अनेक युद्धविग्रहकी सृष्टि होती है, बहुत बड़ा लोकक्षय होता है, अनेकों दुर्बल जातियोंका विनाश होता है। मानव-सभ्यताके क्रमविकासके इतिहासमें जितना संस्कृतिका उत्कर्ष साधित हुआ है, मानवकी चिन्ताधारा, भावधारा और कर्मधाराकी जितनी उन्नति हुई है, मनुष्यके अन्तरमें जितना सत्य, मङ्गल और सौन्दर्यका विकास हुआ है, मनुष्य जितना परिपूर्णताकी ओर अग्रसर हुआ है, वह प्रायः इस संग्रामके द्वारा ही हुआ है। संग्राम संसार-प्रवाहका सनातन नियम है, सृष्टिके भीतर भगवान्का अखण्ड विधान है। यह जीवजगत्के क्रमोत्कर्ष-साधनमें भगवान्का अचिन्तनीय कौशल है।

इसके अतिरिक्त इस संसारमें प्राकृतिक नियमसे कितने उल्कापात और वज्रपात, कितने भूमिकम्प और जलप्लावन, कितने अग्निकाण्ड और बवंडर, कितनी ध्वंसलीला और विप्लव लगातार होते रहते हैं। ये सभी जगत्के नित्यके व्यापार हैं। इस जगत्में उत्पत्ति और ध्वंस, जन्म और मृत्यु, स्वास्थ्य और व्याधि, यौवन और जरा, सुख और दुःख, मिलन और विच्छेद, प्रेम और हिंसा, दया और घृणा, सम्पद् और विपद्, लाभ और हानि, जय और पराजय, एक सूत्रमें ग्रथित हैं। इस प्रकारके द्वन्द्वोंसे ही यह संसार निर्मित है। इस द्वन्द्वके साथ हमारा नित्य परिचय है। इस द्वन्द्व और संग्रामके द्वारा ही विश्वसृष्टिमें भगवान्का निगूढ़ उद्देश्य पूर्ण होता है।

इस द्वन्द्वमें हमलोग एकको चाहते हैं, दूसरेको नहीं चाहते। हमलोग जय चाहते हैं पराजय नहीं चाहते; सुख चाहते हैं दुःख नहीं चाहते; लाभ चाहते हैं हानि नहीं; मिलन चाहते हैं विच्छेद नहीं; उत्पत्ति चाहते हैं विनाश नहीं। किंतु निरपेक्षभावसे विचार करनेपर सहज ही समझमें आ सकता है कि एक पक्षकी जयमें दूसरे पक्षकी पराजय निहित है; एक पक्षके लाभवान् होनेमें दूसरे पक्षकी हानि अवश्यम्भावी है; नूतनकी उत्पत्ति होते रहनेपर पुरातनका ध्वंस अनिवार्य है, विच्छेदकी ज्वालाके बिना मिलनका आनन्दलाभ असम्भव है। इसमेंसे एकको छोड़कर दूसरेका सम्भोग सम्भव नहीं है। तथापि एकका त्याग और दूसरेकी प्राप्तिके लिये प्राणियोंकी आकाङ्क्षा भी स्वभावसिद्ध है, एवं इस आकाङ्क्षा-पूर्तिकी चेष्टामें संग्राम भी अनिवार्य है।

यह द्वन्द्व और संग्राम संसारकी चिरन्तन नीति है, यह लगातार देखकर भी, लगातार इस संग्राममें लिप्त रहकर भी हमलोग इसका गम्भीर भावसे अनुभव नहीं करते, व्यापक भावसे इसके तात्पर्यकी पर्यालोचना नहीं करते। किंतु इस संग्रामकी विकट नग्नमूर्ति जब हमारे स्वार्थके क्षेत्रमें भीषण आकारमें प्रकट हो जाती है, इसका अनिच्छित परिणाम जब हमलोगोंको या हमारे प्रिय स्वजनोंको ग्रास करने जानेके लिये मुँह बाये दीखता है, तब हमलोगोंका हृदय भयसे, वेदनासे, दुःखसे आकुल हो उठता है। तब यह संग्राम हमारे निकट मानो एक नये आकस्मिक व्यापारके रूपमें जान पड़ता है, हमारी विचारशक्ति मोहग्रस्त हो जाती है। कर्तव्यबुद्धि स्थान-च्युत हो जाती है, धैर्य और स्थैर्य नष्ट हो जाता है, हमलोग अपनेको भूल जाते हैं। यह हमारी क्लीबताका परिचायक है

कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये तैयार दो आत्मीय पक्षोंके बीचमें स्थित महावीर अर्जुनकी यही अवस्था हुई। अर्जुन युद्धविद्या-

में पारदर्शी थे। एवं सदासे युद्ध करके ही उन्होंने असाधारण 'महावीर' नामसे ख्याति प्राप्त की थी। उनके इस अनन्य-साधारण गौरवके साथ कितनी वेदनाकी कहानी संलग्न थी, इसपर उन्होंने इतने दिनोंतक उस तरह गम्भीर भावसे विचार नहीं किया था। उनके असामान्य कीर्ति-मन्दिरकी नींवमें कितने कुलोंका ध्वंस और जातियोंका विनाश, कितने नर-नारियोंके आत्मीय स्वजन-विरहका करुण क्रन्दन, कितनी रमणियोंका पतिशोक और पुत्रशोकका कठोर आर्तनाद, कितने पिण्डलोप और वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति, कितना पुरुषपरम्परागत सामाजिक और साम्प्रदायिक साधनप्रवाहका विलोप निहित है, विजयोन्मत्त अर्जुनके प्राणोंमें इतने दिनोंतक वह वैसी किसी गम्भीर वेदनाकी सृष्टि नहीं कर सका था। उस ओर लक्ष्य करनेका उन्हें अवसर ही कहाँ था? इन्होंने विजयी, वीर, लाभवान् और कीर्तिमान् पुरुषकी दृष्टिसे ही उन सब व्यापारोंका पर्यवेक्षण किया था। जो उनकी विजयसे पराजित थे, उनके वीरत्वसे पिसे हुए थे, उनके लाभसे क्षतिग्रस्त थे और उनकी कीर्तिसे ध्वंसप्राप्त थे, उन लोगोंकी दृष्टिसे उन व्यापारोंको उन्होंने नहीं देखा था। उन लोगोंकी मर्मभेदी यातनाने उनके हृदयमें कभी वैसे विक्षोभका संचार नहीं किया था।

आज संग्रामोद्यत उभय पक्षके आत्मीय-स्वजनोंका मुख देखकर युद्धके भीषण परिणामके सम्बन्धमें वे सजग हो उठे। आज उन्होंने गम्भीर भावसे अनुभव किया कि चाहे जिस किसी पक्षकी ही जीत क्यों न हो, दूसरा पक्ष पराजित और निहत होगा, एवं उस विजित पक्षमें भी उनके निज जन ही थे। इस युद्धके परिणाममें जो लोकक्षय, कुलनाश, कुल-धर्म और जातिधर्मका विलोप, वर्णसंकरकी उत्पत्ति और पितृपुरुषका पिण्डलोप होगा, उसकी आशङ्कासे ही वे व्याकुल हो उठे। उनका सदाका आचरित स्वधर्म उन्हें आज नितान्त अधर्मके रूपमें बोध होने लगा। वे धर्म-सम्मूढचेता और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर विषम यन्त्रणाका अनुभव करने लगे।

जिस संग्रामके अवलम्बनसे जीवनधारा प्रवाहित होती है उसी संग्रामकी यह कठोरता और भीषणता जब मनुष्यके चित्तदर्पणपर ऐसे स्पष्टरूपसे प्रतिभात होने लगती है, तब संग्राममें प्रवृत्त होनेके लिये उसका उत्साह नहीं रहता, वह इस कठोर संग्रामक्षेत्रको छोड़कर संन्यास लेनेको इच्छुक हो जाता है, अथवा संग्रामक्षेत्रमें ही निश्चेष्ट होकर अपनी आहुति देनेको प्रस्तुत हो जाता है। अर्जुनकी भी वही दशा हुई। किंतु संग्रामक्षेत्रसे भागनेको स्थान ही कहाँ? समस्त संसारमें ही तो यह घोर संग्राम चल रहा है। विभिन्न स्थानोंमें, विभिन्न अवस्थाओंमें, विभिन्न प्रकारकी परिस्थितियोंमें संग्रामका केवल रूप बदलता है। केवल देहकी रक्षा करनेके लिये भी अनेक विरुद्ध शक्तियोंके साथ युद्ध करना पड़ता है। एक विशाल देशकी शान्तिशृङ्खलाकी रक्षाके लिये जो लोग युद्ध करते हैं उनके युद्धकी अपेक्षा यह युद्ध आकार-प्रकारमें पृथक् होता है। परंतु हैं दोनों ही युद्ध। जो व्यक्ति जिस देशकालमें, जैसी शक्ति-सामर्थ्य लेकर जिस अवस्थामें पड़ गया है, उसको उसीके अनुरूप युद्ध करना होगा। इच्छापूर्वक और विचारपूर्वक न करनेपर प्रकृति या भगवद्विधान बलात् उसको युद्धमें नियोजित करेगा। मृत्यु उपस्थित होनेपर भी जीवको स्वभाववश मृत्युके साथ संग्राम करके बचनेकी चेष्टा करनी पड़ती है, एवं अन्तमें मृत्युसे हार स्वीकार करके मरना पड़ता है। संसारमें रहकर प्रकृतिको कोई भी सम्पूर्ण रूपसे अतिक्रम या अग्राह्य नहीं कर सकता।

संसारक्षेत्रमें युद्धकी भीषणता और अनिच्छाका तीव्र भावसे अनुभव करनेपर भी, सम्पूर्ण रूपसे युद्धसे विरत होनेका उपाय नहीं है। जबतक जीवित रहना है, तबतक प्रकृतिसे बाध्य होकर भगवान्‌के सृष्टिविधानसे युद्ध करना ही होगा—चाहे सविचार हो अथवा निर्विचार, स्वेच्छासे हो अथवा अनिच्छासे, सतेजभावसे हो वा निस्तेजभावसे। ऐसी अवस्थामें जिस प्रकारके युद्धमें जिस भावसे अपनेको नियुक्त करनेपर मनुष्योचित आदर्शका अनुवर्तन होता हो, मानव-जीवनके चरम लक्ष्यकी सिद्धिमें अनुकूलता दीखती हो, समाजमें शान्ति-शृङ्खला प्रतिष्ठित हो और उन्नततर आदर्शका प्रभाव बढ़ता हो एवं मानवजाति आध्यात्मिक सत्यताके उच्चतर सोपानपर आरोहण करती हो तो ऐसे युद्धमें ऐसे भावसे शक्तिके अनुरूप अपनेको लगाना ही विधेय है। युद्धसे भागना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। किंतु आदर्शको उन्नत करना एवं तदनुसार युद्धका सुनियन्त्रण करना मनुष्यके वशकी बात है।

किंतु मनुष्यका चित्त जितना विशुद्ध होता है, बुद्धि जितनी ही उत्कर्षताको प्राप्त करती है, वासना-कामनाका बल जितना ही घटने लगता है, हृदयमें प्रेम-मैत्री-करुणाका जितना ही विकास होता है और देहेन्द्रिय-मनकी चञ्चलता जितनी मिट जाती है, युद्धके प्रति स्वाभाविक ही उतना ही

वैराग्य उत्पन्न होता है, हिंसादि कार्योंमें अरुचि पैदा होती है, सभी कर्म वासनामूलक होनेके कारण बन्धनजनक बोध होते हैं, संसारके कोलाहलसे भागकर शान्तिलाभ करनेके लिये प्राण व्याकुल हो उठते हैं। संसारके चारों ओर ही जब द्वन्द्व, संघर्ष और संग्राम देख पड़ता है, तब समस्त संसार ही दुःखमय रूपसे बोध होता है एवं संसारसे छुटकारा पाना ही परम पुरुषार्थ है—यह ज्ञान होता है।

तब मानवके अन्तःकरण-क्षेत्रमें एक और नये संग्रामका आयोजन होता है। एक ओर संसार अपने स्वाभाविक नियमके अनुसार युद्धके लिये आह्वान करता रहता है, और दूसरी ओर युद्धके प्रति वैराग्य उसके त्यागके लिये, युद्ध-क्षेत्रसे भागनेके लिये उसे उत्साह दिलाता रहता है। तब अन्तःकरणमें कर्म-प्रवृत्तिके साथ संन्यास-प्रवृत्तिका, संग्राम-प्रवृत्तिके साथ संग्राम-त्याग-प्रवृत्तिका एक तुमुल संग्राम आरम्भ हो जाता है। युद्ध त्याग करनेका भी उपाय नहीं दीख पड़ता और युद्धके नानाविध दोषोंके प्रत्यक्ष सामने दीखनेके कारण उसमें रुचि भी नहीं होती। उस समय एक यन्त्रणाप्रद किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था उपस्थित हो जाती है। संसारक्षेत्रमें विचारशील मनुष्यमात्रको ही इस समस्यामें पड़ना पड़ता है। सभी युगोंके सभी श्रेणियोंके विचारशील मनुष्योंकी यह समस्या—यह भीतरी संग्राम कुरुक्षेत्र-समराङ्गणमें स्थित मनुष्यप्रवर 'अर्जुनके चित्तमें उत्कट आकारमें उत्पन्न हो गया। इस समस्याके समाधानके लिये अर्जुन अपने सारथि श्रीकृष्णके शरणागत हुए। इस संसार-समराङ्गणके जो स्रष्टा हैं, जो जीवके स्वभावमें विचित्र भाव, विचित्र प्रवृत्ति, विचित्र रुचि एवं विचित्र अभाव और प्रयोजन उत्पन्न करके समरक्षेत्रके लिये प्रेरणा करते हैं, एवं स्वयं छिपे हुए रहकर उनके विचित्र कर्म और भोगोंको नियन्त्रित करते हैं; जो सभी कर्म-प्रवृत्तियों और भोग-प्रवृत्तियोंके प्रेरक और नियन्तारूपमें प्रत्येक जीवके अन्तरमें विराजमान रहकर भी उनके सामने अपने अस्तित्वतकको छिपाये रखते हैं—विश्वनाट्यके वही अद्वितीय अभिनेता ही अर्जुनके सारथिरूपमें विद्यमान हैं। सभी मनुष्योंके देह-रथपर वे ही सारथिरूपमें नित्य विराजित हैं। वे सभीके नित्य सुहृद्, नित्य सखा, नित्य चालक हैं; किंतु जितने परिमाणमें मनुष्य अपनेको ही कर्ता और भोक्ता, स्वेच्छाविहारी तथा अपना भाग्यविधाता मानकर अभिमानमें प्रमत्त रहता है, उतने ही परिमाणमें उसके सामने उन अन्तर्यामी विश्वनाट्यकार सखाका स्वरूप छिपा रहता है। यद्यपि उनकी सत्ताके सम्बन्धमें पता लगता है, पर उस पतेके लगनेपर कभी भी उन्हें केवल अपना सहायक और इच्छा पूर्ण करनेवाला मात्र समझा जाता है, या कभी कर्म-फल देनेवाला माना जाता है, अथवा कभी उदासीन, निष्क्रिय, सर्वसम्बन्धरहितरूपमें धारणा की जाती है।

विषम संकटमें पड़नेपर जब अभिमान चूर्ण हो जाता है, प्रवृत्ति संकुचित हो जाती है, चञ्चलता दूर हो जाती है, बुद्धि अपनी शक्तिमें विश्वास खोकर प्रकाश पानेके लिये तड़प उठती है, तब भगवान् कृपा करके अपनेको प्रकट करते हैं, संसार-संग्रामका तात्पर्य उसे बतलाते हैं और उसको परम कल्याणका मार्ग दिखाते हैं। अर्जुनके प्राणोंमें भी वही विषम संकट उपस्थित हो गया था। वे दूसरे साधारण मनुष्योंकी तरह भगवान्‌की दैवीमायासे विमोहित होकर राज्य, ऐश्वर्य, कीर्ति, सुख एवं ऐहिक और पारलौकिक धर्मका अनुसरण करते हुए अभिमानके साथ अपनी विद्या, बुद्धि और शक्तिको जिस दिशामें प्रयोग कर रहे थे, कुरुक्षेत्रमें उभयपक्षीय आत्मीयवर्गको देखकर और उनके परिणामको सोचकर, उस दिशाका स्वरूप मानो नये आकारमें उनके सामने आ गया, पर यही क्या उनका स्वधर्म था? इसी स्वधर्मका अनुष्ठान क्या वे जीवनभर करते रहे थे? क्या इस विभीषिकामय परिणाममें उनके वीर-धर्मका पर्यवसान होना था? यह तो घोरतम अधर्म है! यह तो मनुष्यत्वहीनता है! यह तो पितृ-पितामहादि पुरुषोंतकको नरकमें डुबोनेकी व्यवस्था है! उनकी अन्तरात्मा 'त्राहि' 'त्राहि' कर उठी। उनकी बुद्धि किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी और वे अपने नित्यसुहृद्, स्थितप्रज्ञ सारथि श्रीकृष्णके शरणागत हुए।

इस धर्मसंकटमें पड़े हुए पुरुषप्रवरके सामने भगवान्‌ने अपनेको प्रकट किया—उनके सखा और सारथिमें विश्व-नियन्ताने प्रकट होकर उनकी सभी समस्याओंका समाधान कर दिया।

दूसरे तत्त्वज्ञानविहीन मनुष्योंकी तरह अर्जुनके विचार-विभ्रमके मूलमें यह जो मिथ्याज्ञान विद्यमान था कि अपने सभी कर्मोंके कर्ता वे स्वयं हैं, किसी कर्ममें प्रवृत्त होना या न होना, इसमें वे स्वतन्त्र हैं और उनकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और विचारशक्ति उनके सारे कर्मोंकी नियामक है, वे जितने दिन संग्राममें आत्मशक्तिका प्रयोग करके अपने

वंशकी, जातिकी, देशकी, स्वकीय स्नेहास्पद, प्रेमास्पद और भक्तिभाजनोंकी, एवं उनके साथ-साथ अपनी भोग-सम्पत्ति, यश, मान और प्रभाव-प्रतिपत्तिकी वृद्धि करते थे, उतने दिनोंतक उन्होंने स्वाधीनभावसे, स्वेच्छासे, विचारपूर्वक अभिमानके साथ इस युद्ध-विग्रहको अपना धर्मसङ्गत कर्तव्य समझकर ही स्वीकार किया था, एवं दूसरे अनेक वंश-जाति और देशकी परस्पर हानि, कीर्तिनाश और ध्वंसका उन्होंने खयाल नहीं किया था। आज जब युद्धका विषमय परिणाम अपने ही वंश-जाति और देशके ऊपर पड़नेको हुआ, तब वे इसको अधर्म मानकर भीत और विचलित हो पड़े, उनका कर्तव्य-बोध और पूर्वसंकल्प ढह चला !

तो क्या वे इतने दिनोंतक अधर्म ही कर रहे थे ? शास्त्र-समूह जिसको क्षत्रियोंका स्वधर्म कहकर निर्देश करते हैं, वह क्या वस्तुतः ही अधर्म है ? यदि अधर्म ही है तो उस अधर्मको अधर्मरूपमें जानते ही उसका त्याग करना उचित है। अर्जुनने जब सुनिपुण विचारके द्वारा समझ लिया कि यह युद्धकार्य घोरतर अधर्म है, तब बिना विलम्ब ही इसका परित्याग करके उनके लिये संन्यास-व्रतका अवलम्बन करना ही सङ्गत था। अथवा अपने पापोंके प्रायश्चित्तस्वरूप निश्चेष्ट-भावसे शत्रुओंके शस्त्रोंका आघात स्वीकार करके अपने प्राणोंका त्याग करना उचित था।

वे सोचते थे कि मैंने स्वाधीनभावसे ही युद्धव्रत ग्रहण किया था, एवं उसका परित्याग करनेमें भी मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह संसार भगवान्‌का है, भगवान् ही संसारके सभी व्यापारोंके विधाता और नियन्ता हैं, सभी मनुष्य—सभी जीव उनके हाथके यन्त्रमात्र हैं, उनके संकल्पको रूप देनेके निमित्तमात्र हैं—यह तत्त्व उनके हृदय-दर्पणपर प्रतिभासित नहीं हुआ। इस संसार-स्रोतमें बहता हुआ, संसार-तरङ्गोंपर झूलता हुआ, मायामुग्ध प्रत्येक मनुष्य ही इसी प्रकारके भ्रममें पड़ा है।

इस भ्रमका निराकरण करके अर्जुनको स्वभावस्थ करनेके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको प्रकट करके उनको समझा दिया कि इस संसारका कर्ता मनुष्य नहीं है, अपितु भगवान् हैं; संसारके व्यापारसमूह मनुष्यकी इच्छासे संघटित नहीं होते, बल्कि भगवान्‌के विधानसे होते हैं। संसारक्षेत्रमें सर्वत्र ही यह जो संग्राम चल रहा है, यह भगवान्‌का ही विधान है। जिस जीवको उन्होंने जैसी शक्ति-सामर्थ्य देकर जैसी पारिपार्श्विक अवस्थामें स्थापित किया है, उसीके अनुसार उसका कर्तव्य निरूपित होता है, उसीके अनुसार उसका स्वधर्म निर्धारित होता है और उसीके अनुसार संसार-संग्राममें आत्मनियोग करनेको वह बाध्य होता है। जिसके जीवनमें भगवान्‌का जो अभिप्राय या उद्देश्य निहित रहता है, उसको उसका सम्पादन करना ही होगा। मानव-प्रकृतिमें भगवान्‌ने जो विचारशक्ति और इच्छाशक्ति अनुस्यूत कर रक्खी है, उसीसे मनुष्यको स्वाधीनताका बोध होता है। मनुष्यके लिये भगवन्निर्दिष्ट प्रकृतिके ही अङ्गीभूत एवं भगवन्निर्दिष्ट क्षेत्रमें ही इस स्वाधीनता-बोधकी सार्थकताका सम्पादन सम्भव है। भगवान्‌के निर्धारित साधनक्षेत्रसे भागनेकी स्वाधीनता उसको नहीं है।

मनुष्य यदि अपनी विचारशक्तिका सम्यक् विकास करके इस तत्त्वज्ञानमें स्थित होकर भगवद्विहित साधनसंग्राममें भगवत्प्रदत्त शक्तिसामर्थ्यको लगाता है, कर्तृत्वाभिमान और फलाभिसन्धिकी निरर्थकताको समझकर, केवलमात्र भगवत्-कर्मसम्पादन-बुद्धिसे ही अपनी प्रकृति और अवस्थाके अनुयायी कर्तव्यसाधनमें आत्मनियोग करता है तो यह उसकी स्वाधीनताका यथार्थ सद्व्यवहार है और इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है। ऐसा होनेपर शोक-मोहका कोई कारण नहीं रहता और चित्तमें अवसाद नहीं होता।

प्रत्येक मनुष्य भगवद्विधानसे विश्वप्रकृति और अपनी प्रकृतिके द्वारा परिचालित होकर क्षेत्रानुयायी कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है। किंतु अपनी विचारशक्तिके विकासके तारतम्य, नैतिक और आध्यात्मिक जीवनके उत्कर्षापकर्षके अनुसार वह उन्हीं सब कर्मोंको उस महान् या क्षुद्र आदर्शको लक्ष्य करके सम्पादन कर सकता है। जो व्यक्ति अपने देहेन्द्रियकी तृप्ति या बाह्यसम्पत्तिकी वृद्धिको लक्ष्य करके अथवा आत्मीय-स्वजन और जाति-बन्धुओंके ऐहिक भोग-सुख या प्रभाव-प्रतिपत्तिको लक्ष्य करके कर्मक्षेत्रमें अपनी शक्तिका प्रयोग करता है, उसका कर्म सुचारुरूपसे अनुष्ठित होनेपर भी उसको क्षुद्र सीमाके भीतर ही बाँध रखता है एवं उस कर्मके पाप-पुण्यका फल उसको विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। पक्षान्तर-में वही स्वभावोचित कर्म यदि वह समग्र देशके, जातिके और समाजके कल्याणको लक्ष्य करके सम्पादन करता है, तो उसीके द्वारा वह दैहिक और पारिवारिक क्षुद्र सीमासे छूट जाता है, उसका नैतिक और आध्यात्मिक जीवन उन्नत स्तरपर जा पहुँचता है, उसके देह-मन-बुद्धि निर्मलतर हो जाते हैं, एवं वह परमार्थ-लाभके पथपर पर्याप्त दूरतक

अग्रसर हो जाता है। भगवत्सेवारूप सर्वोच्च आदर्शको लक्ष्य करके स्वधर्मका आचरण कर सकनेपर, इसी कर्मके द्वारा वह संसार-बन्धनसे मुक्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है। तब इन सब कर्मोंके आनुषङ्गिक दोष-गुण उसको स्पर्श नहीं करते; तब—

'हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।'

—भगवदाराधना-बुद्धिसे अनुष्ठित स्वधर्मानुमोदित कर्ममें यदि बाहरी दृष्टिसे हिंसादि व्यापार भी हों, तो वे भी अहिंसा-में परिणत हो जाते हैं, उस कर्मके बाहरी स्वरूपमें रुद्र-भावके ताण्डव नृत्यके रहनेपर भी; भीतर शान्तभाव और प्रेमका प्रवाह विद्यमान रहता है। संग्रामकी भीषणता तब आध्यात्मिक साधनाके माधुर्यद्वारा परिपूरित हो जाती है।

संसारमें जन्म ग्रहण करके प्रकृतिके नियमसे समुपस्थित संग्रामसे भागनेसे छुटकारा नहीं मिलता। जो जैसी अवस्थाओंसे घिरा है, तदनुरूप संग्राममें उसको लगना ही होगा। इस संग्रामसे मुक्ति पानेका उपाय—भगवान्‌को सारथि और परिचालकरूपमें अपनेमें प्रतिष्ठित करके एवं सभी व्यापारोंके अद्वितीय कर्तारूपमें उन्हें समझकर, उनके चरणोंपर सम्यक्‌रूपसे आत्मसमर्पण करके, उन्हींके निर्दिष्ट संग्रामक्षेत्रमें उन्हींके दिये हुए शक्ति-सामर्थ्यसे, उन्हींकी सेवा-बुद्धिसे सुनियन्त्रित भावमें प्रयोग करना है। उनके विधानसे संग्रामक्षेत्रका और संग्रामकी बाहरी आकृतिका जब जैसा परिवर्तन होगा, उसीको मस्तक झुकाकर ग्रहण करना होगा, एवं उसीमें आदर्शको उज्ज्वल रखकर मनुष्यत्वकी साधना करनी होगी। भगवान्‌के उपदेशसे अर्जुनकी जब यह बुद्धि जाग्रत् हुई, तब 'राज्यं भोगाः सुखानि च' उनके कर्मोंके नियामक नहीं रहे; कुलक्षय, वर्णसंकर, धर्महानि इत्यादिकी कथा कहीं मानो विलीन हो गयी; उन्होंने भगवान्‌के हाथमें यन्त्ररूपसे—'निमित्तमात्रम्'—अपनेको समझा एवं 'करिष्ये वचनं तव' कहकर वे श्रीभगवान्‌के आदेशानुयायी स्वधर्म-सम्पादनमें व्रती हो गये।

सर्वतापशमनैकभेषजम्

(सब रोगोंकी एक दवा भगवद्भक्ति)

(आचार्य श्रीविनोबाजीके विचार)

[कुछ दिनों पूर्व काशीमें आचार्य श्रीविनोबाजीको ज्वर आ गया था। ज्वर छूटनेपर उन्होंने प्रार्थनाके समय जो महत्त्वपूर्ण संक्षिप्त प्रवचन किया था, निम्नलिखित लेख उसीका सार है। —सम्पादक]

मेरी तो यह धारणा है कि हर रोगों और कष्टोंकी अचूक दवा ईश्वरमें श्रद्धा रखकर भक्तिभावसे उपासनामें तल्लीन रहना ही है। यदि आसपास भगवद्भक्तिका वातावरण रहे, भक्तोंद्वारा भजन होता रहे, तब तो कुछ पूछना ही नहीं है। इससे रोगीको परम शान्ति मिलेगी और उसके जीवनकी बीमारी भी दूर हो जायगी।

दो दिन मुझे बुखार आया पर सुबह और शामकी प्रार्थना ज्यों-की-त्यों चलती रही। मेरी धारणा है कि बीमार मनुष्यके आसपास भगवान्‌के भक्तोंद्वारा संतों और महात्माओंद्वारा लिखित भजनोंको मधुर स्वरमें गान करनेसे बेहतर न तो कोई दवा हो सकती है और न तो कोई सेवा। जो शान्ति और आराम नामस्मरणसे प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। और जहाँ अनेक भक्त मिलकर सामुदायिक प्रार्थना करते हों, भजन गाते हों, वहाँका तो पूछना ही क्या है।

इस प्रकारकी श्रद्धा न सिर्फ हमारे ही देशमें है, बल्कि दूसरे देशोंमें भी है। परंतु लोग श्रद्धारूपी अचूक दवाके रहते हुए भी नाना प्रकारकी, नाना रूपकी कृत्रिम दवाएँ देते हैं। सूर्य, पानी और आकाश आदि प्राकृतिक चीजोंका लोग उपयोग न करके महँगे और गलत इलाजको करते हैं।

मनुष्य अज्ञानी होता है। कोई ऋषि ही क्यों न

हो, वह भी बीमार होता है । एक ऋषिने सोमदेवसे ओषधिके लिये पूछा । सोमदेवने ऋषिको उत्तर दिया कि 'पानीमें सभी ओषधियाँ निहित हैं । पानीका सेवन और परमेश्वरका स्मरण करो । सारे रोग दूर होंगे ।' ऐसा ऋग्वेदमें लिखा है । पानीके साथ हवा और आकाशकी मदद रोगसे बचनेके लिये लेनी चाहिये ।

भगवान् यह नहीं देखता कि भक्त बैठकर भजन कर रहा है या सो करके, खाकर अथवा स्नान करके । वह तो सिर्फ हृदयसे भक्ति चाहता है । दो दिनोंतक मैं पड़ा-पड़ा प्रार्थना सुनता था, पर आज बैठनेकी इच्छा हुई है । भगवान् बड़ा दयालु है । वह इन सब बातोंपर ध्यान नहीं देता । वह तो हृदयकी भक्ति देखकर ही प्रसन्न होता है ।

भक्तोंद्वारा जहाँ प्रेमसे भजन गाये जाते हैं, वहाँ भगवान् निश्चितरूपसे ही रहते हैं और जहाँ सामुदायिक भजन श्रद्धावान् भक्तोंद्वारा हो, वहाँ तो ईश्वरका रहना लाजमी ही है । ऐसा भगवान्का कहना है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

आचार्यजीने प्रार्थनामें सम्मिलित लोगोंसे निवेदन किया कि आप बराबर प्रार्थनामें श्रद्धाके साथ सम्मिलित होते रहें, चाहे आपलोगोंको प्रार्थनाका रहस्य न भी मिला हो । कुछ दिनोंके बाद अपने-आप ही भक्तिरसका अनुभव होने लगेगा और सभी प्रकारके रोगोंसे आप मुक्त हो जायँगे ।
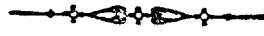
रावण क्या थे ?

(लेखक—मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

'रावण कौन थे' इस बातको तो प्रायः सभी लोग जानते हैं । रावण सत्कुलप्रसूत साक्षात् महर्षि पुलस्त्यके नाती थे । शिव-विरञ्चिकी पूजा करके उनको प्रसन्न किया था । उनसे वर पाकर सम्पूर्ण राजाओंकी कौन-सी कथा है, उन्होंने देवताओं और लोकपालोंपर विजय प्राप्त की थी । लङ्कापुरी उनकी राजधानी थी । धनपति कुबेरको जीतकर, उन्होंने पुष्पक विमान प्राप्त किया था । कहते हैं कि—

'ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी । दसमुख बसबर्ती नर नारी ॥'

परंतु 'रावण क्या थे' यह प्रश्न टेढ़ा है । एक ओर तो रावण वेदोंके भाष्यकार थे । अब भी उनके भाष्यके खण्ड जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं, ज्यौतिषके पारदर्शी थे, भृगुसंहिताकी भाँति रावणसंहिता भी फलादेशका बड़ा उत्तम ग्रन्थ है । सङ्गीतशास्त्रके बहुत बड़े आचार्य थे, वैद्यकके बहुत बड़े जानकार थे । धनुर्वेदके भी प्रकाण्ड विद्वान् थे । कर्मठ थे, अग्निहोत्री थे, तपस्वी थे, उपासक थे; क्या नहीं थे ?

दूसरी ओर देखिये तो रावण बहुत बड़े अत्याचारी थे । धर्मद्रोही, द्विजद्रोही, देवद्रोही और शास्त्रद्रोही मायावी थे । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि रावणके राज्यमें—

जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा ।
आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना ।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना ॥
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं ।
हिंसापर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मिति ॥
सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास ।
परम प्रबल रिपु सीस पर तदपि न मन कछु त्रास ॥

इस भाँति रावणके गुणोंसे बड़ी उनके दोषोंकी तालिका है । ऐसे चमत्कृत गुणों और ऐसे भयानक दोषोंका योग एक व्यक्तिमें कहीं देखा नहीं जाता, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि रावण क्या थे ?

इसी प्रश्नको मनमें लेकर श्रीरामचरितमानसमें बहुत ढूँढ़नेपर अङ्गद-संवादमें पता लगा कि रावण क्या थे ? अङ्गदजी कहते हैं—

कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥
सदा रोगबस संतत क्रोधी। विष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥
तन पोषक निंदक अघ खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥

यहाँ दीपकालङ्कार है। प्रसङ्गप्राप्त शब्द 'कौल' है। अङ्गदजी रावणको 'कौल' कहते हैं। बात बड़े ठिकानेकी है। वस्तुत: रावणको कौल मान लेनेसे सब सामञ्जस्य बैठ जाता है। आज भी महाविद्वान् कौल ऐसे घोर अनुष्ठानोंको समाश्रय प्रदान करता है, जिसे सुन कर वैष्णव-हृदय तो निश्चय ही काँप उठेगा।

उन अनुष्ठानोंसे कहा जाता है कि उन्हें बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जो उन अनुष्ठानोंसे दूर भागते हैं, उन्हें वे पशु कहते हैं, अति तुच्छ दृष्टिसे देखते हैं। प्रबोधचन्द्रोदयकारने कौल-धर्मकी विशेषताओंका दिग्दर्शन कराते हुए कहा है कि—

मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यःकृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै-
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः॥

मस्तिष्क, आँत, चरबीसे भरे हुए ब्राह्मणके मांसकी आहुतियाँ अग्निमें देना, ब्राह्मणकी खोपड़ीमें भरे हुए मद्यसे पारण करना और तुरंतके कटे हुए सिरसे निकली हुई रुधिरकी धारासे, पुरुषोपहार बलिसे कौल लोग महाभैरव शिवजीका पूजन करते हैं।

यह तो हुई उनके धर्मकी विशेषता, अब उनकी मुक्तिकी विशेषता सुनिये—

दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्झिता
जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरुपलावस्थाकथं प्रार्थ्यते।
पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो
मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूडवपुरित्यूचे मृडानीपतिः॥

बिना विषयके सुख तो कहीं देखा नहीं गया, फिर सुखोपलब्धिरहित जीवकी स्थितिको मुक्ति मानना पत्थरकी अवस्थाको चाहना है। भगवान् भवानीपतिने कहा है कि पार्वती-सी सुन्दरी प्रियाको आलिङ्गित किये हुए क्रीडा करना, और आप शिव बने रहना ही मुक्ति है। भावार्थ यह कि जिन-जिन क्रियाओंसे मनुष्यका निश्चय पतन होता है (ब्रह्महत्या-सुरापानादि), उन्हींको अपने साधनका सोपान बनाना कौल-धर्मकी विशेषता है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि कौलादि चौदह पुरुष, जिनकी तालिका ऊपर दी हुई है, हरिभक्त हो नहीं सकते, और जिनके हृदयमें हरिभक्ति नहीं आयी वे शव (मुर्दे) की भाँति अमङ्गलरूप होकर जीते हैं। यथा—

जिन हरि भक्ति हृदय नहि आनी। जीवत सव समान ते प्रानी॥

अङ्गदजीने रावणके वाक्यसे ही जान लिया कि वह बड़ा भारी कौल है; क्योंकि रावण—

'मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां
वह्नौ ....।'

—इसी प्रक्रियाको—

सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस।
हुन्यो अनल महँ बार बहु हरषित साखि गिरीस॥

—कहकर व्यक्त कर रहा है, और—

सिर सरोज निज करन्हि उतारी। पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी॥

कहकर—

'सद्यःकृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै-
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः॥'

यही बात कह रहा है। यह दूसरी बात है कि रावणकी राजसिक श्रद्धा बड़ी ही प्रबल थी। उसने किसी दूसरे ब्राह्मणको बलिके लिये न खोजकर अपने ही सिरोंकी आहुति देकर, अपने ही सिरोंका उपहार शिवजीको दिया।

रावणकी पारणाके विषयमें तो स्वयं शूर्पणखाने कहा है कि—

करेसि पान सोवसि दिन राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥

पार्वतीप्रतिरूपा दयिताके खोजमें ही उसने देव, यक्ष, गन्धर्व, सुर, किन्नर राजकुमारियोंको अपने भुजबलसे जीतकर वरण किया था। उसकी प्रवृत्ति देखकर ही शूर्पणखा कहती है—

तिनके संग नारि एक स्यामा।

रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी॥

ऐसी राजसिक श्रद्धाके फलरूपमें उसे अलौकिक सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं। यथा—

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥

इत्यादि।

अतः कहा जा सकता है कि रावण निःसन्देह कौल थे, लङ्कामें कौल मतका साम्राज्य था। राम-रावण-युद्ध वस्तुतः दक्षिण और वाम पथकी लड़ाई थी।

लङ्काभरमें केवल विभीषणजी हरिभक्त थे। हनुमान्‌जीने सम्पूर्ण लङ्का छान डाली, कोई हरिभक्त न मिला।

भवन एक पुनि दीख सोहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥

रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाय।

नव तुलसिका बृंद बहु देखि हरष कपिराय॥

विभीषणजी महाबलवान् थे, ब्रह्मास्त्रविद् थे, स्वयं रावणके भाई थे, इसलिये उनका गुजारा वहाँ किसी भाँति हो रहा था। नहीं तो, कौल-समाजमें वैष्णवका निवास कैसे सम्भव था। अतः विभीषणजी सब कुछ होनेपर भी महादुखी थे। हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन महँ जीह बिचारी॥

आज भी हरिभक्तों और कौलोंसे काकोलूकीय प्रवृत्ति चलती ही रहती है, अतः निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि रावण कौल थे। साथ-ही-साथ यह भी कह देना आवश्यक है कि परम सिद्ध कौलाचार्य होते हुए भी रावणकी वृत्ति महापण्डित होनेके कारण वैराग्यकी ओर झुकती थी, यथा—

कदा निलिम्पनिर्झरीनिकुञ्जकोटरे वसन्

विमुक्तदुर्मतिः सदा शिरःस्थमञ्जलिं वहन्।

इत्यादि।

आत्म-विजयकी सीढ़ियाँ

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

संसारका सर्वोच्च पुरुषार्थ आत्म-विजयकी प्राप्ति है। मनुष्य कुछ दूरतक अपने-आपका नियन्त्रण समाज तथा राज्यके भयके कारण रखता है। कुछ लोगोंको ईश्वरका भय अथवा अन्तरात्माकी आवाजका भय रहता है। इनके कारण मनुष्य अपनेको अनेक प्रकारके प्रलोभनोंसे रोके रहता है। परंतु इस प्रकारके भय मनुष्यको स्थायी आत्मविजय नहीं देते। जब किसी प्रकारके भयका अन्त हो जाता है, तब मनुष्यकी इच्छा उस भयसे रोके गये मार्गसे प्रकाशित होने लगती है। फिर भयद्वारा रोकी गयी इच्छा मानसिक-ग्रन्थिका रूप धारण कर लेती है। इसके कारण मनुष्यका आचरण भला बना रहता है; परंतु उसके मनमें कभी शान्ति नहीं रहती। फिर जिन बातोंसे वह अपने-आपको चेतन मनमें रोके रहता है, वे ही बातें वह स्वप्नमें देखता है। यदि किसी व्यक्तिकी अन्तर्हित नैतिक भावना प्रबल हुई तो उसे अपने स्वप्न स्मरण ही नहीं रहते और यदि स्मरण रहते हैं तो वे बेतुके होते हैं। कितने ही मनुष्य जो संयमीके रूपमें; न केवल प्रसिद्ध रहते हैं, वरं जो अपने-आपको संयमी मानते भी हैं, आन्तरिक मनसे विषयके इच्छुक रहते हैं। उनके भीतरी मनकी प्रबल भोग-वासनाएँ ही उन्हें बाहरी मनमें संत-साधु बननेके लिये बाध्य करती हैं। ऐसे लोगोंके मनमें आन्तरिक शान्तिका अभाव रहता है। यह सच्ची आत्म-विजय नहीं; यह आत्म-विजयका धोखामात्र है।

सच्ची आत्म-विजय उसी मनुष्यको प्राप्त होती है, जो अपने भीतरी मनको भलीभाँतिसे जानता है और उस मनकी शक्तिको सुमार्गमें प्रवाहित करनेकी चेष्टा करता है। आत्म-विजयका प्रश्न साधारण मनुष्यका प्रश्न नहीं है। साधारण मनुष्य सुखवादी होता है। उसे सुखवादके दुष्परिणामोंसे भयके द्वारा ही रोका जा सकता है। परंतु इससे मनुष्यमें सच्ची मानसिक परिपक्वता और आत्म-नियन्त्रणकी शक्ति नहीं आती। अपनी मानसिक बनावटको जानकर और अपनी मानसिक शक्तिको पहचानकर ही मनुष्यमें आत्म-नियन्त्रणकी शक्ति आती है।

आत्म-विजयके इच्छुक व्यक्तिको दो प्रकारकी बातें

जानना है—एक उसकी दबी वासनाएँ, जो उसकी कमजोरियाँ हैं, और दूसरे उसके सच्चे स्वत्वका बल। मनुष्यकी बहुत-सी कमजोरियाँ उनके जाननेमात्रसे नष्ट हो जाती हैं। चेतन मनकी कमजोरियोंकी जड़ कभी-कभी मनुष्यके अचेतन मनमें रहती है। जब मनुष्य अपने अचेतन मनका ज्ञान भलीभाँति कर लेता है, तब उसे चेतन मनकी कमजोरियोंका मूल कारण भी ज्ञात हो जाता है। इस मूल कारणके ज्ञात हो जानेपर चेतन मनकी कमजोरियोंका बल घट जाता है। इस प्रकार मनुष्यके कई मानसिक रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

कितने ही लोग अपनी कमजोरियोंपर अथवा अपनी प्रबल वासनाओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये तपवादी बन जाते हैं। इससे वास्तविक आत्म-विजय प्राप्त नहीं होती। इससे कितने ही लोग रोगी बन जाते हैं। लेखकके एक शिष्यने कामवासनाके अतिक्रमणसे आत्म-ग्लानि होनेपर व्यवहारमें तपवादका अनुसरण किया। इससे उसे क्षय रोग हो गया। कुछ लोगोंको मानसिक रोग हो जाते हैं। तपवाद एक प्रकारका पलायनवाद है। जिस प्रकार रथका अच्छा सञ्चालन घोड़ोंको खड़ा करके रखनेमें नहीं है वरं उनको उचित ढंगसे चलानेमें है। इसी प्रकार अपने जीवनका सच्चा नियन्त्रण इन्द्रियोंको अक्रिय करनेमें नहीं, वरं उन्हें सत्-पथगामी बनानेमें है। न तो भूखे रहकर और न पञ्चाग्नि तपनेसे ही मनुष्यका मन वशमें होता है, बीचमें मार्गसे चलनेसे ही वह वशमें होता है।

मनुष्य वासनाओंसे मुक्त अपने बार-बार विचारके द्वारा होता है। जब उसे ज्ञान हो जाता है कि विषय-सुख झूठा है और इसके अन्तमें दुःख ही होता है, तब उसे मनुष्य न केवल बाहरी वरं भीतरी मनसे भी छोड़ देता है। इसके साथ-साथ विचारके द्वारा मनुष्य अपनी आत्माकी शक्ति और उसमें निहित आनन्दका भी ज्ञान करता है। सभी वस्तुएँ इसलिये प्रिय होती हैं कि हम उनसे अपनी आत्मीयता जोड़ते हैं। जिस वस्तुसे आत्मीयता चली जाती है, वह फिर प्यारी नहीं लगती। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुमें सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय भाव नहीं, वरं अन्तःकरणमें ही ये भाव हैं। जबतक कोई व्यक्ति हमारा प्रिय रहता है, हमें प्यारा लगता है, जब वह हमारा शत्रु हो जाता है, तब फिर हमें उसके सद्गुण भी बुरे लगने लगते हैं। आत्माका मूल्य पहचान लेनेपर हमारा संसारी विषयोंसे मन हट जाता है। फिर लौकिक घटनाएँ मनमें क्षोभ पैदा नहीं करतीं।

मनुष्यमें आत्म-नियन्त्रणकी शक्ति केवल अपनी कमजोरियोंपर विचार करनेसे नहीं आती। जब मनुष्य अपनी कमजोरियोंको केवल उनपर विजय प्राप्त करनेके लिये ही जानता है, तभी उसका भला होता है; परंतु जब केवल कमजोरियोंपर ही ध्यान जम जाता है, तब उससे भारी अनर्थ होता है। कितने ही लोगोंमें व्यभिचारकी आदतें होती हैं, कितने लोग शराबखोरी, सिगरेट, भाँग, आदिको बुरा समझते हुए भी उनसे अपनेको मुक्त नहीं कर पाते। वे अपनी कमजोरियोंके लिये अपनी भर्त्सना-मात्र करते हैं। इससे उनकी इच्छाशक्ति और भी निर्बल हो जाती है। ऐसी कमजोरियोंका जानना व्यर्थ ही नहीं, अपितु हानिकारक भी है। जिस प्रकार बालकोंको उनकी कमजोरियाँ नहीं बतानी चाहिये, जहाँतक वे उन्हें जीत न सकते हों। इसी प्रकार हमें अपनी कमजोरियाँ नहीं जाननी चाहिये, जबतक हम उन्हें अपने वशमें नहीं ला सकते हैं।

यदि मनुष्यमें कमजोरियाँ हैं तो उसमें उनको जीतनेकी भी महान् शक्ति है। यह शक्ति आत्म-निर्देशकी शक्ति है। आत्म-निर्देशसे मनुष्य न केवल अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोगोंसे मुक्त हो सकता है, वरं वह अपनी साधारण मानसिक कमजोरियोंसे भी मुक्त हो सकता है। अंग्रेजीमें कहावत है He can who thinks he can. जो सोचता है फिर मैं अमुक काम कर सकूँगा, वह उसे अवश्य कर लेता है। चाहे कठिनाई बाहरी हो अथवा आन्तरिक, हिम्मत और आत्म-विश्वाससे ही उसे पार किया जा सकता है। वह साहस और आत्म-विश्वास प्रतिदिनके अभ्याससे बढ़ता है। काम करनेसे ही मनुष्य अपने-आपको पहचानता है और उसे अपनी शक्तिका ज्ञान होता है। यही ज्ञान फिर उसका आत्म-निर्देश बन जाता है। जो व्यक्ति कामसे हिम्मत हार देता है, वह अपने-आपको पहचाननेके अवसरको खो देता है।

कभी-कभी आत्म-निर्देश मनको शान्त करके एकाग्रचित्त होकर किसी विचारको मनमें धारण करनेसे भी बढ़ता है। शरीरकी और मनकी शैथिलीकरणकी अवस्थामें सुझाया हुआ विचार इस प्रसङ्गमें विशेष प्रकारसे प्रभावशाली होता है। मनुष्यकी जटिल-से-जटिल आदत भी कभी-कभी एक ही बारके सन्निर्देशसे सदाके लिये छूट जाती है।

हिंदू-समाज और पर्व

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

यह लोकोक्ति है कि 'हिंदुओंमें सात वार नौ त्योहार हैं।' बात इससे भी कुछ अधिक ही है। कोई दिन ऐसा नहीं, जो पर्व न हो। कोई तिथि ऐसी नहीं, जो पर्व न हो। प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्धरात्रिके सन्ध्यापर्व तो नित्य ही हैं। प्रत्येक दिन अपने ग्रहका पर्व है और प्रत्येक तिथि अपने देवताका। इनके अतिरिक्त देव, मानव-जयन्तियाँ, विजय-पर्व, संक्रान्तियाँ, नक्षत्र, योगादि अनेकों पर्व हैं। किसी-किसी तिथिमें तो पंद्रह पर्वतक पड़ जाते हैं।

पर्वका अर्थ है गाँठ—सन्धिकाल। हिंदू-पर्व सदा सन्धिकालमें ही पड़ते हैं। सन्ध्यासे लेकर बड़े-बड़े यज्ञ सब सन्धिकालमें होते हैं। इस सन्धिकालके कारण ही इनको पर्व कहते हैं। योगदर्शनकारने बताया है कि जाग्रत् एवं सुषुप्तिके मध्यकी स्थितिमें मनका संयम करनेसे समाधिकी प्राप्ति होती है। ध्यानसे निरीक्षण करें तो निद्राकी समाप्ति तथा पूर्ण जाग्रतिके मध्यमें कुछ क्षण उन्मन-स्थितिके होते हैं। मनको अभी बाह्यबोध नहीं हुआ है और निद्राका अज्ञान भी नहीं है। यह स्थिति दृढ़—स्थायी हो जाय तो अज्ञानरहित और स्थूल शरीरकी आसक्तिसे हीन अन्तर्मुख दशा स्थायी हो जायगी। अतः साधकके लिये ये क्षण अत्यन्त बहुमूल्य हैं। जैसे निद्रा और जाग्रतिके सन्धिकालमें मनको अन्तर्मुख होनेका एक निर्बन्ध अवकाश रहता है, वैसे ही प्रत्येक ग्रह-नक्षत्र तथा दूसरे सन्धिकालोंमें भी स्थूलका बन्धन कुछ-न-कुछ शिथिल होता है। उस अवसरसे लाभ उठाकर अन्तर्मुख होनेका प्रयत्न करना ही पर्वका मुख्य उद्देश्य है।

जिस संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य ही अन्तर्मुख होना है, वह ऐसा एक भी अवसर छोड़ कैसे सकती है, जिसमें उसके प्रयत्नको थोड़ी भी नैसर्गिक सहायता मिलनेकी आशा हो। हमारा स्थूल शरीर, मन सब समष्टिके नियमोंसे प्रभावित हैं। ग्रह-नक्षत्रादिका हमारे बाह्य एवं आन्तरिक जीवनसे सुदृढ़ सम्बन्ध है। आकाशमें सूर्यपर सूक्ष्म धब्बे दीखनेपर रेडियोमें कितनी गड़बड़ी होती है, यह विज्ञानके साधारण विद्यार्थी भी जानते हैं। यह स्वाभाविक है कि जब दो शक्तियोंके विनिमयका सन्धिकाल होता है, तब मध्यमें दोनोंके प्रभाव कुछ शिथिल हो जाते हैं। जैसे एक शासनके अन्त और दूसरेके प्रारम्भकी स्थितिमें होता है। ऐसे समय मनपर बाह्य बन्धन शिथिल रहते हैं। मनका निजी स्वरूप तो सात्त्विक है ही। विकार तो उसमें बाह्य प्रभावसे आते हैं। अतः जब भी बाह्य प्रभाव कुछ शिथिल हो मनको अन्तर्मुख करनेका प्रयत्न अधिक सफल होनेकी आशा रहती है। उस प्रयत्नका मनपर सामान्य प्रयत्नसे अधिक प्रभाव पड़ेगा, यह तो निश्चित ही है; क्योंकि प्रयत्न और मनके बीचके प्रभाव कुछ-न-कुछ ढीले हुए हैं। ऐसा कोई सुयोग छूट न जाय जो हमारे मुख्य उद्देश्यमें सहायक हो सकता हो। इसी दृष्टिसे प्रत्येक सन्धिकालको पर्व माना गया है।

पर्व-कृत्य हैं स्नान, पूजन, जप, दान, हवन, ध्यानादि। इनमेंसे प्रत्येक मनुष्यकी बाह्यवृत्तिको अन्तर्मुख करनेके लिये समर्थ है और उसकी प्रेरणा देता है, यह सब मानते हैं। पर्वोंपर पूजा-विधान, दानकी भिन्नता तथा कौन-सा पर्व किस प्रकारके देवता और किस प्रकारकी आराधनाका है, यह तो शास्त्रोंमें देखनेकी बात है। यह पूजादि भेद सूक्ष्म-विज्ञान है। कौन-सा पर्व, कौन-सा सन्धिकाल किस प्रकारका है, उस समय कौन-सी अधिदेव-शक्ति प्रधान रहती है, हमारा प्रयत्न किस प्रकार हो तो उसमें अधिक सफलता-की आशा है, यह सब ज्ञान ही पूजा, देवता, कर्म-भेदका कारण है।

प्रत्येक सन्धिकाल जहाँ मनकी अन्तर्मुखता-दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, वहीं शरीरकी दृष्टिसे सावधानी रखने योग्य भी। निद्रासे सहसा किसीको जगा देनेपर हानि होती है। ऋतुओंके सन्धिकालमें अनेक रोग होते हैं। उस समय संयमकी अधिक आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक सन्धिकाल एक प्रभावकी समाप्ति तथा दूसरेके प्रारम्भकी स्थिति है। ऐसे समय विशेष संयम न करनेसे हानिकी सम्भावना रहती है। विशेष ओषधि एवं आहार ऐसे समयोंमें लाभप्रद होते हैं। चिकित्साशास्त्र ऋतुओंकी सन्धियोंके समयके संयम, त्याज्य आहार एवं कर्म तथा लाभप्रद आहार एवं कर्मोंका विशद वर्णन करते हैं। इसी प्रकार पर्व भी सन्धिकाल हैं। उनमें भी दो प्रभावोंका संक्रमण-काल है। अतएव उनके लिये उस संक्रमण-कालके प्रभावकी दृष्टिसे कुछ कृत्योंका तथा पदार्थोंके सेवनका विधान

तथा कुछ कृत्यों एवं पदार्थोंके सेवनका निषेध है। उनके विधानको पालन करनेसे लाभ तथा उल्लङ्घन करनेसे हानि होती है, भले हम उस सूक्ष्म लाभ या हानिको अनुभव न कर सकें। हम यदि किसी कारखानेके कोयले जलनेसे दूषित वायुका प्रभाव अपने ऊपर अनुभव नहीं कर पाते तो इसका अर्थ यह नहीं कि वायुमें प्रभाव नहीं या हमपर वह पड़ता नहीं है। सूक्ष्म प्रभाव सदा अज्ञातरूपसे ही अपना कार्य करते हैं।

मेरे एक मित्र सुना रहे थे कि उनके पड़ोसकी एक मुस्लिम माता अपने लड़केको पानीसे खेलते देखती तो रुष्ट होकर कहती—'तुझे बम्हनके घर पैदा होना था। वहाँ नहाते-नहाते सड़ जाता।' मनुष्यका जीवित शरीर सड़ता तो जलमें अविराम रहनेसे है, प्रक्षालनसे वह निर्मल होता है, यह बात मनुष्यको अब समझनी नहीं है; परंतु इस तथ्यका जितना उपयोग हिंदू-जातिने किया है, वह अद्भुत है। हमारे शास्त्र जलको तीर्थ—पवित्र करनेवाला कहते हैं। त्रिकाल-स्नान, सन्ध्या, पूजादि सब कार्य जलसे ही सम्पन्न होते हैं। अतिथि-सत्कारमें कुछ न हो तो जल पर्याप्त है और देव-पूजामें भी। देव-पूजाके षोडशोपचारमें अधिक तो जलके ही उपचार हैं। पर्व तो जलाशयके द्वारा ही सर्वाङ्गपूर्ण होते हैं।

हिंदू-समाज अपने आवास जलाशयके समीप ही बनाता था। हमारे नित्य-कृत्य एवं पर्व आदि सबमें जलकी आवश्यकता है और स्नानादिके लिये विस्तीर्ण जलाशयको महत्त्व दिया गया है। यह सब जानते हैं कि पृथ्वीके समस्त स्थूल पदार्थोंकी अपेक्षा जल प्रभावका क्रमशः ग्रहण करता है। शीत या उष्णताका प्रभाव जितनी शीघ्रतासे पार्थिव पदार्थोंपर पड़ता है, उतनी शीघ्रतासे जलपर नहीं पड़ता। समुद्रतटके देशोंमें समुद्रके कारण ही कठोर गरमी या सर्दी नहीं पड़ती। जैसे जल शीत या उष्णताके प्रभावको धीरे-धीरे ग्रहण करता है, वैसे ही नक्षत्रादिकोंके प्रभावको भी। इसलिये जलके द्वारा हम पर्वकालमें दो लाभ उठाते हैं। एक तो जलके कारण नक्षत्रोंके बदलते प्रभाव धीरे-धीरे पड़ते हैं, अतः सन्धिकालमें अन्तर्मुखताका अवकाश अधिक मिलता है और दूसरे प्रभाव धीरे-धीरे बदलनेसे शरीरमें विकृतिकी सम्भावना कम रहती है। जिन ग्रहणादि पर्वोंमें शरीरपर अधिक प्रभाव पड़ता है, उनमें पूरे पर्वकालतक या विशेष-विशेष क्षणोंमें जलमें कटि या कण्ठतक खड़े रहने अथवा डुबकी लगानेका निर्देश है।

कोई प्रभाव वह शारीरिक हो या मानसिक, सर्वत्र वह एक-सा कार्य नहीं कर पाता। जहाँ वह पड़ता है, उस स्थान, पदार्थ, समयके प्रभावसे उसका रूप बदलता है। चिकित्साशास्त्र भी ऋतु-सन्धिमें पृथक्-पृथक् देशों तथा व्यक्तियोंकी प्रकृति, शरीर-बल आदिका विचार करके ही संयम, ओषधि तथा आचारका विधान करता है। इसी प्रकार प्रत्येक पर्वके समय भी उसके अधिकारीका विचार होता है। कुछ पर्व किसी विशेष वर्गके लिये हैं। कुछ पर्वोंमें किसी वर्गके लिये एक आचारका विधान है और दूसरोंके लिये दूसरे आचारका। किसी पर्वके कुछ आचार एवं संयम विशेष वर्ग या विशेष अवस्थाके व्यक्तिके लिये अनिवार्य नहीं हैं। यह सब विधान अपने भीतर अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञान रखता है। केवल कुतर्कसे प्रभावित होकर उसकी उपेक्षा करना हानिकारक है।

पर्वोंके भेद

कर्मकी भाँति ही पर्वोंके भी तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। कुछ पर्व ऐसे हैं, जिनका समय निश्चित है। सन्ध्यादिसे लेकर दीपावली, होली, एकादशी, चतुर्थी आदि ऐसे ही पर्व हैं। इन पर्वोंको नित्य-पर्व कहा जाता है। कुछ पर्व हैं जो किसी निमित्तसे आते हैं, जैसे ग्रहण, कुम्भ, पुत्रजन्मोत्सव। ग्रह-नक्षत्रादिके योगविशेषसे या किसी प्रधान घटनासे पड़नेवाले ये पर्व नैमित्तिक हैं। ग्रह-शान्ति या कामना-विशेषसे कुछ व्रत, पूजन, उत्सव किये जाते हैं, जैसे श्रीमद्भागवतमें फाल्गुन शुक्लपक्षमें पुत्र-कामनावालेके लिये पयोव्रतका वर्णन है। ऐसे व्रत, पर्व कामना होनेपर ही किये जाते हैं, अतः काम्य कहलाते हैं।

पर्वोंके ऊपरके भेदोंके अतिरिक्त उनका दूसरे प्रकारसे भी भेद किया जाता है। कुछ पर्व तिथि, नक्षत्र, दिन, ग्रहयोगके कारण मनाये जाते हैं, ये दिव्य पर्व हैं। कुछ पर्व विशेष देवताओंके हैं और कुछ पितरोंके। गणेश-चतुर्थी, एकादशी आदि देव-पूजनके पर्व देव-पर्व हैं और पितरोंके तर्पण, श्राद्धके समय पितृपर्व। कुछ कालपर्व हैं, जैसे सृष्टिकी प्रारम्भ-तिथि, युगके प्रारम्भकी तिथि, वर्षके प्रारम्भकी तिथि। कुछ जयन्ती-पर्व हैं। भारतमें मरण-दिवस नहीं मनाया जाता है और सामान्य पुरुषको चाहे उसका व्यक्तित्व

कितना भी महान् हो, महत्त्व नहीं दिया जाता है। जयन्ती-पर्व केवल भगवान्के अवतारों या उन महापुरुषोंके ही मनाये जाते हैं, जिन्होंने स्वयं भगवत्प्राप्ति करके समाजको इस ओर विशेष प्रवृत्ति दी।

इन दैवत पर्वोंके पश्चात् प्राणिपर्व होते हैं, जैसे नागपञ्चमी, गोपाष्टमी। समाजके विजयपर्व, उत्थानपर्व और उपार्जनपर्व हैं। विजयादशमी, किसी कार्यके प्रारम्भका महोत्सव तथा नवान्नेष्टि यज्ञ इन पर्वोंके क्रमशः उदाहरण हैं। व्यक्तिके अपने पर्व भी होते हैं, जैसे पुत्र-जन्मोत्सव, विवाहादि। पर्व चाहे जिस प्रकारके हों, उनमें दान, पूजन—ये दो बातें अवश्य रहती ही हैं और वे समय या अवस्थाओंके सन्धिकालमें ही मनाये जाते हैं।

पर्वोंका एक श्रेणी-विभाग उनमें होनेवाले कार्योंके अनुसार भी किया जाता है, कुछ पर्व उपासनापर्व होते हैं, कुछ व्रतप्रधान, कुछ यज्ञप्रधान और कुछ स्नान-प्रधान। कुछ अनुष्ठानपर्व हैं और कुछ महोत्सवप्रधान। पिण्डदान या जप भी कुछ पर्वोंके प्रधान कृत्य हैं। इस प्रकारका विभाग बहुत व्यवस्थित रीतिसे करना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पर्वमें एक कर्म प्रधान होकर भी दूसरे कर्म किये जाते हैं और अनेक पर्वोंमें कई कर्म प्रधान होते हैं। जैसे एकादशी रात्रि-जागरण एवं उपवास-प्रधान पर्व है; किंतु जप, दान, पूजन, कीर्तन—ये सब इसमें प्रधान ही हैं। विशेषतः संकीर्तन एवं भगवत्पूजन तो एकादशीके मुख्य कृत्योंमें हैं।

इसी प्रकार पर्वोंमें जातीय पर्व भी लोग मानते हैं; परंतु ऐसे पर्व नहीं हैं, जिसे केवल एक जातिके लोग ही मनाते हों। अनन्तचतुर्दशी ब्राह्मण-जातिका, विजयादशमी क्षत्रियोंका, दीपावली वैश्योंका और होलिका शूद्रोंका पर्व कहा जाता है; किंतु इनको यही जातियाँ मनाती थीं, ऐसा कभी नहीं हुआ। इन पर्वोंमें उन जातियोंका, जिनके ये पर्व कहे गये हैं, समाजमें विशेष सम्मान होना चाहिये, बस इस प्रमुखतासे ही ये जातियोंके पर्व कहे गये। पूरा हिंदू-समाज अनादिकालसे अपनेको एक शरीर मानता आया है। उसमें पार्थक्यकी भावना, पृथक्-पृथक् पर्व, पृथक्-पृथक् आदर्श जैसी कोई वस्तु नहीं है। शरीरके अङ्गोंके समान अपने अधिकारके अनुसार सबके कार्य विभिन्न हैं, पर समष्टिरूपसे सब एक हैं। सबका लक्ष्य एवं आचारका आदर्श एक है। अतः सबके पर्व भी एक ही हैं।

दिव्यपर्व

संक्रान्ति, कुम्भ, वारुणी, अर्धोदय, ग्रहणादि दिव्य पर्व हैं। ये विशेष-विशेष ग्रह-नक्षत्रोंके योगके समय होते हैं। सूर्यकी संक्रान्तियाँ तो महीने बनाती हैं। दो महीनेकी एक ऋतु और ऋतुओंके संक्रमणकालका प्रभाव तो चिकित्साशास्त्र बतलाता ही है। एक ऋतुकी दोनों महीनोंमें भी समानता नहीं रहती। सूर्य एक राशिसे दूसरी राशिपर जाते हैं तो ऋतुमें अन्तर आता ही है। शारीरिक दृष्टिसे इस अवसरके महत्त्वको समझना कठिन नहीं है। सूर्य हमारे शरीरमें नेत्रके देवता हैं। शरीरमें जो उष्णता है वह सूर्यसे ही आती है। बुद्धि भी सूर्यसे ही प्रेरणा प्राप्त करती है। इस प्रकार सूर्यका एक राशिसे दूसरी राशिमें जाना नेत्र, बुद्धि तथा विश्वकी समस्त ऊष्माको प्रभावित करता है।

जिस प्रकार सूर्यका सम्बन्ध हमारे शरीरसे है, वैसे ही चन्द्रमाका भी है। चन्द्रमा मनके देवता हैं, रसनेन्द्रिय और जलपर उनका प्रभाव है। चन्द्रमाकी क्षय एवं वृद्धिका समुद्रपर जो प्रभाव पड़ता है, उसीसे ज्वार-भाटा आता है। पदार्थोंमें तथा शरीरमें स्थित जलांशको तथा बाहरके जलको भी चन्द्रमा प्रभावित करते हैं। यद्यपि पाश्चात्त्य ज्योतिर्विज्ञान अभी इतना उन्नत नहीं हुआ कि वह सूर्य तथा चन्द्रके अतिरिक्त जो ग्रह तथा नक्षत्र हैं, उनके पृथ्वीपर पड़नेवाले प्रभावोंको ठीक-ठीक जान सके, फिर भी ग्रहोंका प्रभाव पड़ता है, यह वहाँके ज्योतिर्विद् भी मानते हैं। वे अपने ढंगसे विभिन्न ग्रहोंके प्रभावोंका वर्णन भी करते हैं। ये प्रभाव पृथ्वीके सभी भागोंपर एक-से नहीं पड़ते। जब पृथ्वीका जो भाग जिस ग्रहकी सीधी सन्निधिमें होता है, उसी भागपर उस समय दूसरे भागोंसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

कुम्भपर्व सूर्य, चन्द्र एवं बृहस्पतिके विशेष संयोगपर आता है। यह पर्व प्रत्येक तीन वर्षके लगभग अन्तरसे पड़ता है और क्रमशः प्रयाग, हरद्वार, उज्जैन एवं नासिकमें मनाया जाता है। एक स्थानपर बारह वर्षमें पुनः पड़ता है। इस कालके मध्यमें अर्धकुम्भीपर्व और पड़ता है। इसी प्रकार वारुणीपर्व भी वरुण तथा दूसरे ग्रह-नक्षत्रोंके योगसे होता है। प्रत्येक पर्वके लिये मुख्य स्थान शास्त्रोंमें वर्णित है। कुछ ऐसे पर्व हैं जो उन स्थानोंमें ही प्रभाव प्रकट करते हैं और कुछ अपने स्थानोंमें अधिक तथा अन्यत्र कम प्रभाव रखते हैं। कुम्भपर्व तो निश्चित स्थानोंमें ही होता है; परंतु ग्रहणके लिये काशी, प्रयाग—ये

मुख्य स्थान होकर भी जो वहाँ नहीं पहुँच सकते, उनके लिये अपने स्थानपर या उसके पासके तीर्थमें ग्रहणकृत्यका विधान है; क्योंकि ग्रहणका प्रभाव सर्वत्र पड़ता है।

कुम्भपर्वके सम्बन्धमें जो पौराणिक आख्यान है, वह कल्पना है और पर्व नक्षत्रयोगके लाभकी दृष्टिसे है, ऐसी बात नहीं है। वह आख्यान ज्यों-का-त्यों अक्षरशः सत्य है और ऐसे ही आख्यान दूसरे पर्वोंके सम्बन्धमें भी हैं। दिव्य जगत् ही स्थूल जगत्का कारण है। अतः दिव्य जगत्की क्रियाएँ ही स्थूल जगत्की प्रथाएँ बनती हैं। स्थूल जगत् जब दिव्य जगत्का ही व्यक्त रूप है, तब उसमें ऐसी कोई बात हो नहीं सकती जो दिव्य जगत्में न हो। इसी प्रकार ये सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, वरुण, सप्तर्षि, नक्षत्रादि केवल स्थूल पिण्ड नहीं हैं। वे उन देवताओंके लोक हैं जिनके नामसे उन्हें पुकारा जाता है। पृथ्वीके विशेष-विशेष पदार्थों तथा हमारे मानसिक भावोंसे उनका सम्बन्ध है। वे उन्हें प्रभावित, सञ्चालित, पोषित करते हैं। जैसे वरुण नक्षत्रका जल-तत्त्वपर प्रभाव है। अतएव इन ग्रह-नक्षत्रोंके संक्रमण, योग आदिके प्रभाव पृथ्वीपर पड़ते हैं और वह प्रभाव स्थूल जगत् तथा मनपर भी व्यक्त होता है। दैवत पर्व इस प्रभावके उपयोगी अंशका सम्यक् लाभ उठाने तथा हानिसे बचनेका विधान करते हैं।

ग्रहण

दिव्य पर्वोंमें ग्रहणको लेकर पाश्चात्त्य जगत्ने एक विवाद उपस्थित कर दिया है। पृथ्वी चलती है और सूर्य स्थिर है, यह पाश्चात्त्य सिद्धान्त है। यद्यपि पृथ्वीकी गति और आकृतिके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य ज्योतिर्विदोंमें मतक्य नहीं है और सापेक्षवादने उसमें एक क्रान्ति उपस्थित कर दी है; परंतु जनसाधारण अभी इसी पुरानी भ्रमपूर्ण धारणामें विश्वास करते हैं। इस धारणाके अनुसार ग्रहण पृथ्वी तथा चन्द्रमाकी छायाके कारण होते हैं। इस मतमें भी सूर्यग्रहणमें सूर्यका तथा चन्द्रग्रहणमें चन्द्रमाका पूरा प्रभाव संसारपर नहीं पड़ता और चन्द्रग्रहणके समय ज्वार-भाटोंका क्रम वैसा ही नहीं रहता, जैसा दूसरी पूर्णिमाको रहता है। इसी प्रकार सूर्यग्रहणका प्रभाव रेडियोपर पड़ता है। प्राचीन समयसे शास्त्र कहते हैं कि विद्युत्केन्द्र सूर्य है। 'विद्युत्सूर्ये समाहिता' तैत्तिरीय आरण्यकका यह विज्ञान रेडियोद्वारा अब जाना जा सका है। इस प्रकार ग्रहणका प्रभाव पृथ्वीपर पड़ता है, यह पाश्चात्त्य धारणासे भी समर्थित है; अतः ग्रहणके आचारके सम्बन्धमें मतभेदका कोई कारण नहीं है।

भारतीय ज्यौतिषशास्त्र पृथ्वीको स्थिर मानते हैं। ग्रहणका कारण चन्द्रमाकी छायाके साथ चलनेवाला एक ग्रह है, जिसे राहु कहा जाता है। यह ग्रह छायापुत्र कहा गया है। चन्द्रमाकी छायाके साथ रहने तथा अन्धकारपूर्ण होनेसे वर्तमान विज्ञान अपने यन्त्रोंसे इसे देखनेमें अभी सफल नहीं हुआ है।

सूर्यग्रहणके समय समस्त पदार्थोंके तथा शरीरमें स्थित उष्णता, विद्युत्में विकृति आती है। नेत्र तथा बुद्धिपर ग्रहणका प्रभाव पड़ता है। उस समय भोजनादिसे अनेक रोग हो सकते हैं। इसी प्रकार चन्द्रग्रहणके समय पदार्थोंके जलीय तत्त्व विकृत रहते हैं। उस समय आहार तथा असंयमसे कफ विकृत होकर रोगका कारण बन सकता है। मनपर चन्द्रग्रहणका प्रभाव पड़ता है; क्योंकि मनके देवता चन्द्रमा हैं। इसलिये ग्रहणके पूर्वसे, जबसे उसका प्रभाव पृथ्वीपर पड़ने लगता है, आहारादि अनेक कार्य वर्जित हैं। उस समय जो घड़ेमें भरा जल या भोजन रक्खा हो, वह भी फिर उपयोग करनेयोग्य नहीं होता। मन तथा बुद्धिपर पड़े प्रभावसे लाभ उठानेके लिये जप-ध्यानादिका विधान है। ग्रहणके समय किये गये जप, यज्ञ, दान प्रभृतिका सामान्यकालकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व वर्णित है।

देखा गया है कि गर्भिणी स्त्री यदि ग्रहणकी ओर देखती है तो गर्भस्थ शिशुके अङ्ग विकृत हो जाते हैं। यह प्रभाव सगर्भा पशु-जातियोंपर भी पड़ता है। गोबरमें ग्रहणके दुष्प्रभावको निवारित करनेकी शक्ति है। इसलिये ग्रहणकालमें गृह, वस्तु तथा जिन प्राणियोंको गर्भ हो, उन्हें गोबरसे वेष्टित कर देते हैं। सूर्यग्रहणमें नेत्रोंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और कुछ परीक्षणोंसे सिद्ध हुआ है कि उस समय भोजन करनेसे हुआ अग्निमान्द्य रोग कठिनतासे जाता है और उस समय स्त्री-सहवाससे दोनोंकी नेत्र-ज्योति क्षीण हो जाती है। अनेक बार अन्धे होनेका भी भय हो जाता है। दिव्य पर्वोंमें ग्रहणको शास्त्रोंने भी बहुत महत्त्व दिया है। ग्रहणका प्रभाव तर्क एवं परीक्षणसे सिद्ध है। ग्रहणकालमें उच्छृङ्खल-आचारसे मानसिक अव्यवस्था, बुद्धि-विकार तो होता ही है, शारीरिक स्वास्थ्यकी भी बड़ी हानि होती है। अतः इस सम्बन्धमें सबको सावधान रहना चाहिये।

पुरुषोत्तम-मास

हर तीन वर्षके पश्चात् एक चान्द्रमास बढ़ जाता है। यह पूरा महीना ही पर्व होता है। पूरे महीने संयम एवं उपासनाका महत्त्व सामान्य समयसे अधिक है। जब चान्द्रमासके लगातार दो पक्षोंमें सूर्यकी संक्रान्ति नहीं पड़ती; तब वह एक मास अधिक हो जाता है। चन्द्रमाकी एक पूरी परिक्रमामें सूर्यका एक राशिसे दूसरी राशिका संक्रमण न हो तो पृथ्वीपर चन्द्रतत्त्वका बल बढ़ेगा। जल; मन; कफमें वृद्धिजन्य विकृति होगी। इसीसे यह महीना संयमका तथा पुण्यकालका है।

पुरुषोत्तममासमें काशीकी पञ्चकोशी परिक्रमा होती है। भगवान् शङ्करके मस्तकपर विराजनेवाले चन्द्रदेवका प्रभाव विश्वनाथपुरीपर अधिक पड़ता है; यह तो सहज स्वाभाविक है। चन्द्रग्रहणका भी स्नानादि-महत्त्व काशीमें ही अधिक है।

देवपर्व

दिव्यपर्वोंके पश्चात् देवपर्वोंका स्थान है। हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात्रि होता है। दक्षिणायनके महीने देवताओंका रात्रिकाल है और उत्तरायण दिनका समय। इसलिये महत्त्वपूर्ण मङ्गल कार्य उत्तरायणमें होते हैं। इसी प्रकार एक महीनेके दोनों पक्षोंमेंसे शुक्लपक्ष देवताओंका कार्यकाल है और कृष्णपक्ष विश्रान्तिकाल। अधिकांश पर्व शुक्लपक्षमें पड़ते हैं।

कुछ तिथियाँ देवपर्व हैं और दिन तो अपने-अपने ग्रहोंके हैं ही। जिस दिन पृथ्वीपर जिस ग्रहका प्रभाव अधिक रहता है; वह दिन उस ग्रहके नामसे पुकारा जाता है। उस दिन उस ग्रहका व्रत; पूजन करनेसे उसकी शान्ति तथा अनुकूलता प्राप्त होती है। इसी प्रकारकी बात नक्षत्रोंके सम्बन्धमें भी है। गणेशचतुर्थी; एकादशी; प्रदोष आदि तिथियोंके देवताओंके विशेष पर्व हैं। हमारे जीवनमें किसी समय कोई विशेष घटना हुई हो तो उस समय हमें उस घटना और उस स्थलका स्वतः स्मरण होता है। इसी प्रकार जिस देवताके द्वारा किसी समय कोई महत्तम कार्य हुआ है; उस समय उसका ध्यान उस ओर जाता है। उस समय उसकी आराधनासे उसका संतोष शीघ्र प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त किस कालमें कौन-सी देवशक्ति भूलोकके अधिक सम्पर्कमें रहती है; यह ज्ञान देवशक्तियोंके विशद ज्ञानके बिना शक्य नहीं। भगवान् विष्णुका पर्व एकादशी है; भगवान् शङ्करका प्रदोष। इस प्रकार देवताओंके विभिन्न पर्व हैं। भगवान् शङ्कर या भगवान् विष्णुकी महामहिमाके अनुरूप ही उनके पर्व दूसरे पर्वोंसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर्वोंका आचार; विधान; संयम; पूजादि उस देवशक्तिके अनुरूप होती है; जिसका वह पर्व है।

दिव्य पर्वोंकी भाँति देवपर्व भी सन्धिकालकी अपेक्षासे ही मनाये जाते हैं। जिस दिन पूरे दिन-रात्रि एकादशी रहती हो; उस दिन एकादशीका व्रत नहीं होता! व्रत तो तभी होगा जब एकादशीमें दूसरी तिथिकी भी सन्धि हो। इसी प्रकार गणेश चतुर्थीका पूजन चन्द्रोदयके सन्धिकालमें विहित है। दूसरे भी पर्वोंकी यही दशा है।

पितृपर्व

आश्विन मासका कृष्ण पक्ष पूरा पितृपर्व है। यह मास पितरोंके दिनसे उनका मध्याह्नके समयका भोजनकाल है। इस समय उन्हें पिण्डका स्मरण होता है। इसके अतिरिक्त जिस दिन उनका शरीर छूटा हो; उस दिन भी उनको धराका स्मरण होता है। ऐसे समय पितृश्राद्धके हैं। इनके अतिरिक्त संक्रान्तिके अवसरपर तथा विशेष तीर्थोंमें जानेपर पितृश्राद्धका विधान है। संक्रान्ति-जैसे पर्वोंपर पितृलोकका धरासे सम्पर्क अबाध हो जाता है। राशि द्वारोंसे सूर्य हटकर दूसरे द्वारपर उस समय जाते होते हैं। इस कालमें पितृलोकका सूर्य एवं धरासे सम्पर्क रहता है। ऐसे ही विशेष-विशेष तीर्थोंका पितृलोकसे दूसरे स्थानोंकी अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। जैसे हमारे शरीरमें कुछ स्थानोंको मर्मस्थान कहा जाता है और वे मस्तिष्कके सीधे सम्पर्कमें होनेसे उन स्थानोंपर लगा आघात बहुत कष्टकर प्रतीत होता है; इसी प्रकार उन तीर्थों तथा समयोंमें दिये गये पिण्डसे पितरोंकी तृप्ति सहज होती है; क्योंकि प्रभाव-ग्रहणके लिये वे सम्पर्कमें होते हैं।

छिन छिन हरिसुमिरन करौ; छिनहु भूलौ नाहिं।
सुमिरन सम कछु लाभ नहिं; हानि भूल-सम नाहिं॥

तीसरी राह

(लेखक—श्रीरावी)

किसी तपोवनमें एक आत्मज्ञानी महात्मा रहते थे। एक बार किसी गाँवके तीन जाटोंके मनमें उनके शिष्य बनकर आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा हुई। तीनों उस तपोवनकी ओर चल दिये।

उन संत महात्माको किस प्रकार अपना गुरु बनाकर उनसे आत्मज्ञान प्राप्त किया जाय, इसी विषयपर वे तीनों राहमें बातें करने लगे। पहले जाटने कहा—

'आत्मज्ञानका मार्ग दुनियादारीके मार्गसे अलग है। मैं तो जाकर महात्माजीके पैरोंपर गिर जाऊँगा और उनके पैरोंकी धूल अपने माथेपर लगा लूँगा। अगर इतनेपर उन्होंने मुझे आत्मज्ञानका उपदेश कर दिया तब तो ठीक है ही, नहीं तो मैं उनके आश्रमके द्वार-पर यों ही बिना खाये-पिये रोता-पुकारता पड़ा रहूँगा। कभी-न-कभी उन्हें मुझपर दया आयेगी ही और इस मेरी भक्तिको इतना पक्का देखकर मुझे आत्मज्ञानका उपदेश दे देंगे।'

दूसरे जाटने कहा—'भाई! तुम्हारी बात कुछ-कुछ तो ठीक है, पर उसमें एक बात जरा धोखेकी है। संतोंके दरबारमें रोने-धोनेकी महिमा बहुत बड़ी है और संतलोग दयालु भी बहुत होते हैं। लेकिन भूखे-प्यासे रहनेकी बात ऐसी है कि जबतक सधी, सधी और जब न सधी तो न सधी। इसलिये मैं तो महात्माजीकी मिलकर सेवा करूँगा। उनके चरण दबाऊँगा, स्नान कराऊँगा, उनकी हरेक छोटी-बड़ी, ऊँच-नीच सेवा करूँगा और उनका हरेक काम करनेके लिये चौबीसों घंटे उनके द्वारपर मुस्तैद रहूँगा। संतोंको और क्या चाहिये! वे सेवासे ही प्रसन्न होते हैं। मेरी सेवासे प्रसन्न होकर वे किसी-न-किसी दिन मुझे आत्मज्ञानका उपदेश जरूर कर देंगे।'

इसपर तीसरे जाटने, जो उन सबमें तगड़ा था, अपना मोटा लट्ठ धरतीपर धमकते हुए कहा—

'मेरा तो भाई! जनमका साथी यह लट्ठ है। मैंने दुनियामें जो कुछ कमाया है, इसीके बलपर, और महात्माजीसे जो कुछ पाऊँगा वह भी इसीके बलपर। संतलोगोंके सेवक भी बहुत होते हैं। तुम्हें महात्माजीने आज्ञा दे दी कि बस करो बेटा, बस, तुम आराम करो और दूसरे सेवकोंको सेवा करने दो तो तुम्हारा काम तो इस हुकुम-बरदारीमें ही चौपट हो जायगा; और महात्माजीने अगर तुम्हारे रोने-धोनेपर तरस खाकर किसी चेलेके हाथों एक पत्तल कड़ाह-परसाद तुम्हारे पास भेजकर तुम्हें हुकुम भेजा कि 'बेटा! रो मत, हाथ-मुँह धोकर यह हलवेका प्रसाद पा ले' तो तुम भी उनका हुकुम मानोगे ही और तुम्हारा भी असली मामला यों ही टरकता रहेगा। इन सबसे तो भाई! मेरा यह लट्ठवाला नुस्खा ही सबसे पक्का है।'

'लट्ठ!' पहले जाटने कहा—'अरे मूरखे! लट्ठके बलपर कहीं आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है! संतोंका तेज तू नहीं जानता। एक कोपभरी दृष्टि तेरी तरफ उठा देंगे तो लट्ठसमेत वहींपर भस्म हो जायगा।'

तीनों जाटोंमें इस प्रकार कुछ आलोचना-प्रत्यालोचना और फिर तू-तू, मैं-मैंकी भी नौबत आ गयी। लेकिन तीसरे जाटके लट्ठके संकेतसे यह मतभेद बहुत जल्द समाप्त हो गया; और तय हुआ कि तीनोंका मार्ग अपने-अपने लिये ठीक है और उसीपर तीनोंको अमल करना चाहिये।

आत्मज्ञानके ये तीनों जिज्ञासु जब महात्माजीके आश्रममें पहुँचे, तब पहला जाट उनके सामने पृथ्वीपर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगा; दूसरा सीधे उनके पैरोंपर हाथ लपकाकर उन्हें दबाने लगा; और तीसरेने उनके सामने अपने लट्ठका सिरा धरतीपर पटकते हुए कहा—

'महात्माजी ! मुझे आत्मज्ञान चाहिये । आपके पास यह ज्ञान है और मैंने सुना है कि ज्ञान देनेसे घटता नहीं है, इसलिये मुझे आत्मज्ञान देनेमें आपका कोई घाटा नहीं है । इसपर भी अगर आपको मेरी विनती माननेमें कोई आनाकानी हो तो महाराज ! मैं तो एक सीधा-सादा जाट हूँ; समझ लीजिये कि आप हैं और मेरा यह लट्ठ है !'

महात्माजीने इन तीनों जिज्ञासुओंका यथावत् समाधान करते हुए पहलेको अपने हाथोंसे उठाकर उसके माथेपर हाथ फेरा, दूसरेकी पीठ थपथपायी और तीसरेके साहस और पौरुषकी प्रशंसा की । उन्होंने वचन दिया कि यथाधिकार तीनोंको आत्म-ज्ञान देनेका प्रयत्न करेंगे ।

अगले दिन तीनोंको बुलाकर महात्माजीने पहले जाटको भजन-पूजनसम्बन्धी कुछ प्रार्थनाओं और स्तोत्रोंको कण्ठस्थ कर लेनेका आदेश देते हुए उसे उसके इच्छानुसार जी खोलकर भक्ति-पूजा करनेका उपदेश दिया; दूसरे जाटको अपने आश्रमके नये पौधोंको जल देनेकी सेवा सौंप दी और तीसरेसे कहा—

'रातको तुम अपना लट्ठ लेकर मेरी कुटियाके द्वारपर ही रहा करोगे । आधीरातके बाद कुछ भूत-प्रेत यहाँ मेरी समाधिमें विघ्न करनेके लिये आते हैं, उन्हें दूर रखनेका काम तुम्हारा होगा । रातको इस पहरेके लिये तुम्हें कुछ अधिक जागना पड़ेगा, इसलिये दिनके भोजनमें तुम्हें कुछ कमी करनी पड़ेगी ।'

'कुटियाके द्वारपर तो महाराज ! मैं आपके बिना कहे भी लट्ठ लेकर पहरा दूँगा; और आधीरात नहीं पूरी रात पहरा दूँगा, चाहे उस जागरणके लिये मुझे कुछ कम नहीं, आधा-चौथाया पेट भरकर ही रहना पड़े । भूतोंसे अधिक तो मुझे आपका पहरा देना है; किसी रात चुपचाप कुटियासे निकलकर आप चले गये तो मेरे हाथसे सारा मामला ही निकल जायगा ।'

महात्माजी मुसकराये और तीनों साधक अपने-अपने कामपर लग गये । वर्षोंतक यह क्रम चलता रहा ।

एक दिन सुबह जागनेपर पहले और दूसरे जाटने देखा कि महात्माजीके आसनपर यह तीसरा जाट विराजमान है और महात्माजीका पता नहीं है । इस तीसरे जाटके मुखके चारों ओर एक अभूतपूर्व तेजकी किरणें-सी फैल रही हैं । उसने इन दोनों जाटोंको सम्बोधित करते हुए कहा—

'मेरे प्यारे बच्चो ! आत्मज्ञानकी सिद्धि पुरुषार्थसे ही होती है, किसीसे भीख माँगने या अविचारपूर्ण मनमानी सेवा करनेसे नहीं । कोई किसीको कोई वस्तु दे नहीं सकता, प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थसे ही सब कुछ पा सकता है । महात्माजीने मेरे विवेकहीन पुरुषार्थको बाहरी टुटपुँजिये धनियोंकी ओरसे मोड़कर, मेरे विवेकपूर्ण पुरुषार्थको मेरे भीतरके ही महाधनिकोंको लूटनेकी ओर प्रवृत्त किया । मैंने अपने भीतरके शत्रुओंको पराजित किया और भीतरके ही खजानेको लूटा । मुझे आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी । इस आश्रममें रहकर अधिकारी जिज्ञासुओंका पथप्रदर्शन करनेका काम मुझे सौंपकर महात्माजी दूसरे, इससे भी बड़े कामके लिये अपने अगले कार्य-क्षेत्रको चले गये हैं ।'

× × × ×

इस कथाके समर्थनमें मेरे कथा-गुरुने ईसाई संतोंकी उस उक्तिकी ओर संकेत किया है, जिसमें उन्होंने कहा है कि 'स्वर्गका राज्य बलप्रयोगसे ही प्राप्त किया जाता है ।' 'The kingdom of heaven is taken by force' say the Christian Mystics.

आध्यात्मिक उन्नतिके लिये सात्त्विक आहार

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

'जैसा भोजन वैसे विचार'—इस तथ्यमें गहरी सत्यता है। हम जैसा कुछ खाते हैं, वैसा ही मन बनता है, खाये हुएसे ही रुधिरकी उत्पत्ति होती है। इसमें वे ही गुण आते हैं, जो गुण हमारे भोजनके थे। भोजन हमारे मन, बुद्धि, अन्तःकरणके निर्माणमें सहायक है। भारतीय संस्कृतिमें अध्यात्म-मार्गका अवलम्बन करनेवाले योगी-महात्मा, ऋषि-मुनि इत्यादि सात्त्विक प्रवृत्तिके व्यक्तियोंके लिये सात्त्विक भोजनकी ही योजना है।

मनुष्यकी सर्वाङ्गीण उन्नति तब होती है, जब वह प्राकृतिक रूपसे मिलनेवाले भोजनसे अपने आपको पुष्ट करता रहे। मृदुता, सरलता, सहानुभूति, शान्ति अथवा उग्रता, क्रोध, कपट, घृणा इत्यादि सब स्वभाव-के गुण-दोष भोजनपर ही निर्भर करते हैं। जो व्यक्ति उत्तेजक भोजन करते हैं, वे किस प्रकार संयमसे रह सकते हैं? वे शुद्ध बुद्धिका विकास कैसे कर सकते हैं? और वे कैसे दीर्घायु हो सकते हैं? राजसी आहार करनेवाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि उत्तेजक भोजन करनेपर भजन-पूजन, स्वाध्याय या संयम सम्भव नहीं है।

हमारे द्वारा प्रयुक्त भोजनका तथा हमारे विचारोंका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भोजन हमारे संस्कार बनाता है, जिनके द्वारा हमारे विचार बनते हैं। यदि भोजन सात्त्विक है तो मनमें उत्पन्न होनेवाले विचार सात्त्विक और पवित्र होंगे; इसके विपरीत उत्तेजक या राजसी भोजन करनेवालोंके विचार अशुद्ध और विलासी होंगे। जिन जातियोंमें मांस, अंडे, लहसुन, प्याज, मद्य, चाय, तम्बाकू इत्यादिका प्रयोग किया जाता है, वे प्रायः विलासी, विकारमय और गंदे विचारोंसे परिपूर्ण होते हैं। उनकी कामेन्द्रियाँ उत्तेजक रहती हैं, मन कुकल्पनाओंसे परिपूर्ण रहता है, क्षणिक प्रलोभनमें अन्तर्द्वन्द्वसे परिपूर्ण हो जाता है। भोजन हमारे स्वभाव, रुचि तथा विचारों-का निर्माता है।

पशु-जगत्को लीजिये। बैल, भैंस, घोड़े, गधे, हाथी, बकरी इत्यादि शारीरिक श्रम करनेवाले पशुओंका मुख्य भोजन घास-पात, हरी तरकारियाँ या अनाज रहता है। फलतः वे सहनशील, शान्त, मृदु होते हैं। इसके विपरीत सिंह, चीते, भेड़िये, बिल्ली इत्यादि मांसभक्षी चञ्चल, उग्र, क्रोधी, उत्तेजक स्वभावके बन जाते हैं। घास-पात तथा मांसके भोजनका यह प्रभाव है। इसी प्रकार उत्तेजक भोजन करनेवाले व्यक्ति कामी, क्रोधी, झगड़ालू, अशिष्ट होते हैं। विलासी भोजन करनेवाले आलस्यमें डूबे रहते हैं; दिन-रातमें दस-बारह घंटे वे सोकर ही नष्ट कर देते हैं। सात्त्विक भोजन करनेवाले हलके, चुस्त, कार्योंके प्रति रुचि प्रदर्शित करनेवाले, कम सोनेवाले और मधुर-स्वभावके होते हैं। उन्हें कामवासना अधिक नहीं सताती। उनके आन्तरिक अवयवोंमें विष-विकार एकत्रित नहीं होते। जहाँ अधिक भोजन करनेवाले अजीर्ण, सिरदर्द, कब्ज, सुस्तीसे परेशान रहते हैं, वहाँ कम भोजन करनेवालोंके आन्तरिक अवयव शरीरमें एकत्रित होनेवाले कूड़े-कचरे-को बाहर फेंकते रहते हैं, विष-सञ्चय नहीं हो पाता।

भोजनकी उपयोगिता स्पष्ट करते हुए एक वैद्य-विशारद लिखते हैं—'भोजनसे शरीरका छीजन, जो हर समय होता रहता है, दूर होता है। यदि यह छीजन दूर न होगा तो कोष दुर्बल हो जायँगे और चूँकि शरीर कोषोंका एक समूह है, कोषके दुर्बल होनेसे सम्पूर्ण शरीर दुर्बल हो जायगा। कोषोंको वे ही पदार्थ मिलने चाहिये, जिनकी उन्हें आवश्यकता हो, जैसे गरमी तथा स्फूर्ति देनेवाले, उनको पुष्ट करने और अच्छी

हालतमें रखनेवाले पदार्थ। कोषोंके अंशोंके टूटने-फूटनेसे शरीरमें बहुत-से विषैले अम्ल-पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं। इनको दूर करनेके लिये क्षार बनानेवाले पदार्थ (पके-मीठे फल, खट्टे फल, नीबू, आम, चकोतरे, अनन्नास, रसभरी, कच्ची या प्राकृतिक ढंगसे पकाई गयी साग-सब्जी, दूध, घी, मीठा दही, छाछ) खाने चाहिये।

भोजनका आध्यात्मिक उद्देश्य

भोजन करनेका एक आध्यात्मिक उद्देश्य है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीताजीमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न करनेवाले भोजनोंकी ओर संकेत किया है। जिस व्यक्तिका जैसा भोजन होगा, उसका आचरण भी तदनुकूल होता जायगा। भोजनसे हमारी इन्द्रियाँ और मन संयुक्त हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। (छान्दोग्य)

अर्थात् 'आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है। सत्त्वकी शुद्धिसे बुद्धि निर्मल और निश्चयी बन जाती है, फिर पवित्र और निश्चयी बुद्धिसे मुक्ति भी सुलभतासे प्राप्त होती है।'

जिन्हें काम, क्रोध, उत्तेजना, चञ्चलता, निराशा, उद्वेग, घबराहट, शक्तिहीनता या अन्य कोई मनोविकार है, उन्हें उसकी चिकित्सा भोजनद्वारा ही करनी चाहिये। सात्त्विक भोजनसे चित्त निर्मल हो जाता है, बुद्धिमें स्फूर्ति रहती है। अन्यान्य जगत्में उपवासका अत्यधिक महत्त्व है। अधिक खाये हुए अन्न पदार्थको पचाने और उदरको विश्राम देनेके लिये हमारे ऋषियोंने उपवासकी योजना की है। भोजनमें चित्त-वृत्तियाँ लगी रहनेसे किसी उच्च विषयपर ध्यान एकाग्र नहीं होता। उपवाससे काम, क्रोध, रोगादि फीके पड़ जाते हैं और मन हठात् दुष्कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता। सात्त्विक अल्पाहार करनेवाले व्यक्ति अध्यात्म-मार्गमें दृढ़तासे अग्रसर होते हैं। जो अन्न बुद्धिवर्धक हो, वीर्यरक्षक हो, उत्तेजक न हो, कब्ज न करे, रक्त दूषित न करे, सुपाच्य हो—वह सत्त्वगुणयुक्त आहार है। अध्यात्म-जगत्में उन्नति करनेके इच्छुकोंको, पवित्र विचार और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले तथा ईश्वरीय तेज उत्पन्न करनेवाले अभ्यासियोंको सात्त्विक आहार करना चाहिये।

सात्त्विक आहार क्या है?

सात्त्विक आहार

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(गीता १७। ८)

जो ताजा, रसयुक्त, हलका, स्नेहयुक्त, पौष्टिक, हृद्य और मधुर हो और जिससे आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती हो, उसे सात्त्विक आहार कहते हैं। जैसे गेहूँ, चावल, जौ, साठी, मूँग, अरहर, चना, दूध, घी, ऊँख, फल, सेंधा नमक, रताळु, सकरकन्द, तरकारियाँ, शाक इत्यादि। शाकोंमें घीया, तुरई, खीरा, पालक, मेथी आदिका विशेष महत्त्व है। ये हलके, सुपाच्य तथा शुभ प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करनेवाले पदार्थ हैं। फलोंमें आम, तरबूज, खरबूजा, आलबुखारा, नारंगी इत्यादि उत्तम हैं। दही भूलोकका अमृत है। सात्त्विक पुरुष दही, छाछ, मक्खन इत्यादिका खूब प्रयोग कर सकते हैं।

स्वामी शिवानन्दजीके अनुसार 'हरे ताजे शाक, दूध, घी, बादाम, मक्खन, मिश्री, मीठे संतरे, सेव, अंगूर, केले, अनार, चावल, गेहूँकी रोटी, मखाना, सिंघाड़े और कालीमिर्चका सेवन किया जा सकता है। सात्त्विक आहारसे चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होती है।' दहीकी लस्सी, मिश्रीका शरबत, नारंगी, नीबूके रसका प्रयोग सात्त्विक है। नीबूको खटाईमें गिनना भूल है। साधक इसका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते है। इससे पित्तका शमन होता है तथा रक्त शुद्ध होता है। एकादशीके दिन अन्नका परित्याग कर दूध और फलोंका

सेवन करना चाहिये। इससे इच्छाशक्ति बलवती होती है तथा जिह्वापर नियन्त्रण प्राप्त होता है।

प्रसिद्ध आत्मवादी डा० दुर्गाशंकर नागरकी सम्मति इस प्रकार है—'आध्यात्मिक पुरुषको अवस्था, प्रकृति, ऋतु तथा रहन-सहनके अनुसार विचारकर शीघ्र पचनेवाला सात्त्विक भोजन करना चाहिये। फलाहार सब आहारोंमें श्रेष्ठ है। संतरे, सेव, केले, अंगूर, चूसनेके आम आदि फल उत्तम होते हैं। फलाहारसे उतरकर अन्नाहार है। रोटी, मूँग, अरहरकी दाल, चावल, शाक, भाजी, दूध, मक्खन, घी आदिका समावेश अन्नाहारमें होता है। आटा हाथका पिसा हुआ चोकरसहित उपयोगमें लेना चाहिये।'

गेहूँ और जौ सत्त्वगुणी अनाज हैं; चनेका अधिक उपयोग वायुकारक होता है। कच्चे चनेको छिलके सहित भिगोकर नसें फूटनेपर खाना बलकारी है। यही बात मूँगके सम्बन्धमें भी है। दालोंमें मूँग, मोठ, अरहर श्रेष्ठ हैं। सिंघाड़े, सकरकन्द सत्त्वगुणी हैं। चावल हितकर अनाज है। जो इसे पचा सकें, अवश्य लें। फलोंके रस, बादाम, खीरेके बीज, सौंफ, इलायची, गुलाबके फूलोंकी ठंडाई मिश्री मिलाकर पीना उत्तम है। गुड़ सर्वोत्कृष्ट मीठा है। गोदुग्ध सात्त्विक है।

मनको विकृत करनेवाला राजसी आहार क्या है?

राजसी आहार

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
(गीता १७।९)

'कड़वा, खट्टा, नमकीन, बहुत गरम, तीखा, रूखा, जलन पैदा करनेवाला, ऐसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं।' राजसी आहारका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे मन तथा इन्द्रियोंपर पड़ता है। मनमें कुकल्पनाएँ, वासनाकी उत्तेजना और इन्द्रियलोलुपता उत्पन्न होती है। मनुष्य कामी, क्रोधी, लालची और पापी बन जाता है; उसके रोग, शोक, दुःख, दैन्य अभिवृद्धिको प्राप्त होते हैं। मनुष्यकी आयु, तेज, सामर्थ्य और सौभाग्यका तिरोभाव होता है। बुद्धि मलिन होती है।

राजसी आहारकी सूची देखिये

करेला, नीम, इमली, बहुत नमकीन, सोडा आदि क्षार, गरमागरम चीजें, राई, गरम मसाला, भाड़के भूजे पदार्थ, लालमिर्च, तेलके तले हुए गरिष्ठ पदार्थ, बाजारमें बिकनेवाली मिठाइयाँ, रबड़ी, पूड़ी-कचौड़ियाँ, मालपुआ, तली हुई दालें, अधिक मिर्च-मसालेवाले पदार्थ, उत्तेजक तरकारियाँ; केवल जिह्वाके स्वादमात्रके लिये तैयार की गयी बाजारू चाटें, पकौड़ी, समोसे, दही-बड़े, खस्ता कचौरियाँ, मसालेदार काबुली चने, चाय—ये सभी चीजें दुःख, चिन्ता और रोग पैदा करती हैं। इनके अतिरिक्त खानेका पान, चूना, तम्बाकू, आदि भी राजसिक हैं।

हिंदूशास्त्रमें प्याज तथा लहसुन वर्जित हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये उत्तेजना उत्पन्न करनेवाली तरकारियाँ हैं। ये तमोगुणी हैं। राजसी, तामसी, विलासी व्यक्ति इनका प्रयोग करते हैं। इनसे इन्द्रियाँ कामुक हो उठती हैं। इन्हें खानेवाले लोग विलासी, क्रोधी, विक्षुब्ध और उत्तेजनाओंमें फँसे रहते हैं। उनके मुँहसे दुर्गन्ध आती है।

दालोंमें उर्द-मसूर पौष्टिक होते हुए भी अपने गुणोंमें तामसिक हैं। यही कारण है कि हिंदू मसूरकी दालसे परहेज करते हैं। वह ठाकुरजीके भोगमें निषिद्ध है। चटनियाँ, अचार, तेल, खटाई, सोंठ भी राजसिक हैं। रोटीमें नमक डालकर पकानेसे वह भी मनकी राजसिक वृत्तिको प्रोत्साहित करती है। कुछ लोग बर्फके बिना पानी नहीं पी सकते; सोडा—लैमन बार-बार पीते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिसे यह बुरा है। राजसी आहारसे मन चञ्चल, क्रोधी, लालची होता और विषय-वासनामें लगता है।

तामसी आहार क्या है ?

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(गीता १७। १०)

मनुष्यका भोजन अनाज तथा तरकारियाँ हैं। एक-से-एक सुस्वादु और गुणकारी फल परमात्माकी सृष्टिमें हैं; मेवोंका ढेर मनुष्यको सुखी करनेके लिये उत्पन्न किया गया है, दूध और शहद-जैसे अमृत-तुल्य पेय पदार्थ मानवके लिये सुरक्षित हैं। किंतु शोक! महाशोक! मनुष्य फिर भी तामसी आहार लेता है।

तामसी आहारोंमें मांस आता है। मांस-मछलीका प्रयोग केवल स्वादमात्रके लिये बढ़ रहा है। अंडोंका प्रयोग किया जा रहा है। भाँति-भाँतिकी शक्तिवर्द्धक जान्तव दवाइयाँ, मछलियोंके तेल, गुटिकाएँ, व्यसन इत्यादि तामसीवृत्ति उत्पन्न करते हैं। तामसी आहारमें अधपका, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूँठा और विषम (अर्थात् बेमेल भोजन) भी सम्मिलित है। बिस्कुट, डबलरोटी, चाकलेट, आमलेट, मांससे तैयार होनेवाले नाना पदार्थ, कॉड-लिवर-आयल, विलायती दवाइयाँ, काफी, कोको, शराब, कोकिन, गाँजा, चरस, अफीम, भंग, सिगरेट, बीड़ी इत्यादि सब तामसीवृत्ति उत्पन्न करते हैं।

तामसी आहारसे मनुष्य प्रत्यक्ष राक्षस बन जाता है। ऐसा पुरुष सदा दुखी, बुद्धिहीन, क्रोधी, लालची, आलसी, दरिद्री, अधर्मी, पापी और अल्पायु बन जाता है।

जितना ही अधिक अन्न पकाया जाता है, उतना ही उसके शक्ति-तत्त्व विलीन हो जाते हैं। स्वाद चाहे बढ़ जाय किंतु उसके विटामिन पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। कई-कई रीतियोंसे उबालने, भूनने या तेलमें पूड़ी-कचौड़ीकी तरह तलनेसे आहार निर्जीव होकर राजसी-तामसी बन जाता है। विलायती दूध, सूखा दूध, रासायनिक दवाइयाँ, बाजारू मिठाइयाँ निर्जीव होकर अपना शक्ति-तत्त्व नष्ट कर देती हैं।

भोजनमें सुधार करना शारीरिक कायाकल्प करनेका प्रथम मार्ग है। जो व्यक्ति जितनी शीघ्रतासे गलत भोजनोंसे बचकर सही मार्गपर आरूढ़ हो जायँगे, उनके शरीर दीर्घकालतक सुदृढ़, पुष्ट और स्फूर्तिमान् बने रहेंगे। क्षणिक जिह्वासुखको न देखकर, भोजनसे शरीर, मन और आत्माका जो संयोग है, उसे सामने रखना चाहिये। जबतक अन्न शुद्ध नहीं होगा, अन्य धार्मिक, नैतिक या सामाजिक कृत्य सफल नहीं होंगे। अन्नशुद्धिमें सबसे बढ़कर आवश्यक है—शुद्ध कमाईके पैसेका अन्न। जिसमें झूठ, कपट, छल, घूस, अन्याय, वस्तुओंमें मिलावट आदि न हो—इस प्रकारकी आजीविकासे उपार्जित धनसे जो अन्न प्राप्त होता है वही शुद्ध अन्न है। अतएव व्यापार, नौकरी या अन्य पेशेमेंसे यह पाप निकलना चाहिये। नहीं तो, शुद्ध आहार स्वप्नकी-सी बात हो जायगी।

इसके बाद जातिसे सात्त्विक, निर्माणमें सात्त्विक, भावमें सात्त्विक और स्थानकी दृष्टिसे भी जो सात्त्विक होता है, वही शुद्ध सात्त्विक आहार है और उसीसे पवित्र मन बनता है तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है।

'शास्त्र-वाणी'

भक्तस्य पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा।
न हि पूतस्त्रिभुवने श्रीकृष्णसेवकात् परः॥

वसुन्धरा भक्तकी पदधूलिसे तुरंत पवित्र होती है, इस जगत्‌में श्रीकृष्णसेवकसे बढ़कर कुछ भी पवित्र नहीं है।

संजीवन बूटी

(लेखक—महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी)

१—दुष्ट और बुरे मनुष्योंका स्मरण और उनकी चर्चा करनेसे मन मलिन हो जाता है, पाप-वासनाएँ बढ़ जाती हैं और बहुत-सी बुराइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं।

२—जहाँ अन्धकार-ही-अन्धकार है, वहाँ प्रकाश कैसे मिल सकता है। जिस मनुष्यमें स्वयं ज्ञान-भक्ति नहीं है, वह तुमको ज्ञान-भक्ति कहाँसे और कैसे दे सकता है। सच्चे संत-महात्माका सत्सङ्ग करो, तभी तुम्हारा अन्धकार दूर होगा।

३—जगत्‌की सारी वस्तुएँ प्रकृतिसे बनी हैं, बराबर बदलती रहती हैं, उत्पत्ति और विनाशके प्रवाहमें बहती रहती हैं। एक अवस्थामें सदैव रहनेवाली नहीं हैं, फिर उनपर एकाग्रता कैसे सम्भव है ? प्रकृतिके इस रहस्यको समझनेकी कोशिश कीजिये।

४—राम-नाम जपनेसे हृदयमें सद्‌गुण आते हैं, दिव्य भावना उत्पन्न होती है, विचार और स्वभाव निर्मल होते हैं, ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं, शान्ति, प्रसन्नता और प्रेमकी लहरें उठने लगती हैं। पाप-संस्कारोंके बीज, जो जन्मान्तरसे अन्तरके कोठारमें भरे पड़े रहते हैं, सब दग्ध हो जाते हैं।

५—भक्तोंके हृदयमें अहर्निश राम-नाम रहता है, उनके जीवनका सहारा केवल राम-नाम ही है।

६—भक्तोंके हृदयमें सदैव ईश्वरका वास रहता है, उनके लिये कोई चीज दुर्लभ नहीं है। सांसारिक मनुष्य उनको नहीं समझ पाते, इसीलिये उनका अपमान करते हैं और दूर भागते हैं।

७—भक्तकी रक्षा भगवान् माताके समान करते हैं। संसारमें कोई भी भक्तका अपमान करके कुशलसे नहीं रह सकता।

जो अपमान भक्त कर करई। राम रोष पावक महँ जरई॥

८—भक्तका सङ्ग करनेसे कई जन्मोंका पाप दूर होता है। भक्तोंका दर्शन अमोघ है, भक्तोंका उपदेश अनमोल और अनुपम है। अवश्य ही यह सब बातें असली भक्तके लिये हैं, बनावटीके लिये नहीं।

भगवान्‌का नाम-जप-कीर्तन सर्वपापनाशक है

कीर्तनाद् देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः। दुरितानि विलीयन्ते तमांसीव दिनोदये॥
गाथां गायन्ति ये नित्यं वैष्णवीं श्रद्धयान्विताः। स्वाध्यायनिरता नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥
वासुदेवजपासक्तानपि पापकृतो जनान्। नोपसर्पन्ति तान् विप्र यमदूताः सुदारुणाः॥

(पद्मपुराण, पाताल० ९२। १३—१५)

‘अमिततेजस्वी देवाधिदेव भगवान् विष्णुके कीर्तनसे सब पाप वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे दिन उगनेपर अँधेरा। जो मनुष्य नित्य श्रद्धापूर्वक श्रीविष्णुभगवान्‌की गुण-गाथा गाते तथा नित्य स्वाध्यायमें लगे रहते हैं, वे दिव्यलोकमें जाते हैं। विप्रवर! भगवान् वासुदेवके नाममें जिनकी आसक्ति हो जाती है, वे मनुष्य पहले पाप करनेवाले भी रहे हों, तो भी भयानक यमदूत उनके पास नहीं फटकने पाते।’

तुलसीका मायावाद

(लेखिका—श्रीमती शान्ति गौड़, बी० ए०)

नारीके रूप-लावण्यकी क्षणिक वासनामें आसक्त तुलसीने एक दिन अपनी पत्नीके श्रीमुखसे सुना—

'अस्थि-चरममय देह यह, तामैं जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ, होत न तव भवभीति ॥'

यह बाण था, जिसकी तीक्ष्ण नोंक थी ज्ञानसे ओतप्रोत। लक्ष्य भेदकर निकल गया। फलतः तुलसी सांसारिक माया-मोहका रहस्य-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सन्नद्ध हो गये। स्त्रीकी सीख थी असीम प्रभावशालिनी, फिर मर्म भिदकर भी तो रह गया था। तुलसीका जिज्ञासु कवि सुचिर सत्सङ्ग एवं सुमहान् अध्ययनके सहारे अध्यात्म-तत्त्वके उस स्तरतक पहुँच गया, जहाँके आगे सभी प्राप्य क्षीण पड़ जाते हैं। तुलसीकी सर्वगर्भा लेखनीने साहित्य-जगत्‌में वे-वे रत्न प्रसूत किये जो अमूल्य हैं, अलौकिक हैं और हैं आदि-सत्यसे पूर्ण। सबसे प्रमुख गुण है—आध्यात्मिकता, जिसकी आभा उनकी सहज ज्योतिको और अधिक उद्दीप्त करती है।

रोगी अपने उस रोगका निदान भली प्रकार कर पाता है, जिसकी पीड़ा एवं यातनाने उसे रुग्ण-शय्यापर पड़े रहनेको विवश किया हो। मायाके द्वारा प्रेरित मोहयुक्त भ्रमके रोगने तुलसीको भी अपना लक्ष्य बनाया था। कर्मप्रवीण कविने उस रोगका उन्मूलन करनेका जैसे दृढ़ निश्चय कर लिया था। अस्तु, तुलसीके मानसमें ही हमें यत्र-तत्र सर्वत्र माया, जीव एवं तुलसीके इष्ट रामकी सत्ताका निरूपण दिखायी पड़ता है।

तुलसीके मायावादकी विशद विवेचना हमें मानसके उत्तरकाण्डमें प्राप्त होती है। संघर्षोंका नाम ही संसार है। संसारमें जन्मप्राप्त प्राणी सुख-दुःख आदि अनेक द्वन्द्वोंके संघर्षमें पड़कर इतना निमग्न हो जाता है एवं उसपर मोहका आवरण इतना अधिक छा जाता है कि वह स्वयंको भूल जाता है। ईश्वरकी, ब्रह्मकी, जगन्नियन्ताकी अमोघ सत्तामें संदेह होने लगता है। इसी मोह और ममताका नाम माया है। इसी मायासे विमूढ़ नर संसारमें अनेक अकाण्ड-ताण्डव किया करते हैं—

'करहिं मोहवस नर अघ नाना। स्वारथ-रत परलोक नसाना ॥'

इस सर्वव्यापिनी मायाके आकर्षण-जालमें सभी प्राणी आबद्ध हो जा रहे हैं। तुलसीकी इन पंक्तियोंमें मायाकी व्यापकता परिलक्षित होती है—

'आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी ॥
फिरत सदा माया के प्रेरे। काल कर्म स्वभाव गुन घेरे ॥'

विश्वमें रहकर प्राणियोंके अंदर जो अहंभावका उदय होता है, वह मायाकी व्यापकताकी ओर संकेत करता है। मायामें पड़कर ही मानव अहंके मदमें विस्मृत हो जाता है। जितने दृश्य पदार्थ हैं सब मायासे युक्त हैं; अर्थात् माया उन सबपर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। अहं मायाका विषयगामी स्वरूप है। यह माया बड़ी प्रबल है। केवल संसृतिके अकिञ्चन जीव ही उसके भ्रमपाशमें नहीं पड़ते, वह तो सुर, असुर, नाग, नर सभीको अपने अज्ञानावरणमें छिपाये हुए है। मायाकी इसी व्यापकताका आभास हमें—

'सिव चतुरानन देखि डराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥'

—से मिलता है। इस मायाकी महत्ता स्वयं शिवजीने स्वीकार की है—

'प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ॥'

ज्ञानियोंको भी माया वशीभूत कर लेती है। ज्ञानके दुर्ज्ञेय पथका अनुसरण करता हुआ ज्ञानी बहुधा अहंभावसे आविभूत हो उठता है। उसे भी माया अपने इन्द्रजालमें आबद्ध कर लेती है।

यह माया ब्रह्मकी माया है। इसके दो स्वरूप हैं—विद्यामाया एवं अविद्यामाया। विद्यामाया परमेश्वरकी स्फूर्ति-दायिनी शक्ति है। यह संसारका पोषण करती है। अविद्यामायामें आसक्त जीव किसी निश्चयसे अति दूर भ्रमोंके वात्याचक्रमें चकित-सा पड़ा रहता है। यह 'नट मरकटकी नाईं' जीवोंको बाँधकर मनोवाञ्छित नृत्य कराती रहती है। इस विषम मायाके वशमें सुर, असुर, नाग, नर सभी आ जाते हैं।

यहाँपर यह जिज्ञासा होती है कि इस मायाका एवं ईश्वर—ब्रह्मका क्या सम्बन्ध है। माया ईश्वरकी शक्तिविशेष है। ईश्वर ही उसका एकमात्र आश्रय है। तुलसीकी वेदोंकी स्तुतिमें 'बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे' में यही भाव ध्वनित होता है। माया—

'जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥'
'सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।'

तथा—

वह जीवपर तो अज्ञानकी ऐसी घोर यवनिका डालती है, जिससे सहज मुक्ति सम्भव नहीं रह जाती। पर वही ईश्वरकी आज्ञाकारिणी है। वह 'रघुबीरकी दासी' है। प्रभुके भ्रूसंकेतपर उसके कार्य-कलाप गतिशील होते हैं। वह इतनी शक्तिशालिनी है कि लवनिमेषमें ब्रह्माण्डोंकी रचना कर डालती है।

लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥

संसारके समस्त प्राणियोंको मोहावरणमें आच्छन्न करना एक अतीव दुष्कर साधना है—फिर माया क्या अकेले ही इसमें सिद्धि प्राप्त करती है अथवा उसके कोई सहायक भी हैं? इसका समाधान भी तुलसीके मायावादसे हो जाता है। माया अकेली नहीं—उसका अपरिमित परिवार है—यौवन, ममता, मत्सर, शोक, चिन्ता, मनोरथ तथा—

'सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥

उपर्युक्त कथित गुण जिन-जिन उपादानोंसे प्रकट होते हैं, उन्हींमें अविद्या-शक्तिका प्रवेश स्वीकार करना पड़ता है। धन्य है माया, जिसका—

ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥

इतना होनेपर भी—जगत्-मोहिनी होनेपर भी वह प्रभुके भ्रुकुटि-संकेतपर नाचती रहती है—

सो प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥

राम मायापति हैं—अतएव इस मायासे यदि कोई मुक्त होनेकी आकाङ्क्षा रखता है तो केवल एक उपाय है—वह है मायापति भगवान्‌की भक्ति।

हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥

मायाका प्रभाव प्रभुके भजनसे ही दूर होता है। क्योंकि माया प्रभुको प्रसन्न करनेवाली 'नर्तकी' है—उनके इशारेपर नाचनेवाली नटी है और भक्ति उनकी पटरानी है। भक्तिके सामने मायाका नाच बंद हो जाता है। भक्तिसे माया डरती है। अतएव जहाँ रामभक्ति निवास करती है, वहाँ माया संकुचित होकर अपनी प्रभुता हटा लेती है—

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥

अविद्या-मायाका प्रभाव क्षीण होनेपर विद्यामायाकी शीतल छाया प्राप्त होती है; क्योंकि वह परमात्माकी आह्लादिनी शक्ति है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें सीता, राधा अथवा योगमाया इसी विद्यामायाके स्वरूप माने गये हैं। 'पदनिर्वाण' अर्थात् मायासे मुक्तिकी प्राप्ति तभी हो सकती है, जब भगवान् अनुकूल हों। सत्-चित्-आनन्दस्वरूप भगवान् ब्रह्मका स्वरूप राम-नाम ही उस पदनिर्वाणके स्तरतक ले जानेमें समर्थ हो सकता है। अस्तु, मायाके जालकी ग्रन्थियोंसे दृढ़ाबद्ध प्राणीकी मुक्तिका उपाय भी तुलसीने खोज निकाला—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

भगवान्‌के सम्बन्धमें अज्ञानका कारण केवल मोह है। तुलसीदासजी इसका उल्लेख यथावसर करते चलते हैं—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥

आकाश-मण्डलपर जब घन-पटल छा जाते हैं, तब मनुष्यको सूर्यके छिप जानेका भ्रम हो जाता है, किंतु वास्तविकता तो कुछ और ही है। सूर्यके ऊपर बादल तो केवल आवरणमात्र हैं। इसी प्रकार जलयुक्त सीपमें रजतका अस्तित्व न होनेपर भी मोहमय प्राणीको चाँदीका आभास मिलता है। ऐसे समस्त भ्रम भगवत्-कृपासे ही विनष्ट होते हैं; क्योंकि 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' तुलसी अपने मायावादके उपसंहारमें इसी निष्कर्षपर आते हैं कि भक्ति ही इस मायाकी परवर्ती स्थिति है। भगवान्‌के युगल-चरणोंकी अमृत-सरितामें ही मायाके विकारोंका प्रक्षालन अवश्य हो सकता है।

अब तुलसीके राम-ब्रह्मका स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। तुलसीकी मुखर-भारतीने सब कुछ कह डाला है। इस अध्याय-क्षेत्रमें कोई भी विषय उनकी व्यञ्जनासे परे नहीं रह पाया। उन्होंने अपने प्रभुका स्वरूप अत्यन्त विचित्र बताया है। जीवका प्रभुसे क्या सम्बन्ध है? ईश्वर जगत्‌से किस प्रकार सम्बन्ध रखता है?—आदि सभी कुछ तो तुलसीके इसी मायावादके अङ्गसे प्रतीत होते हैं।

'जगत् प्रकास्य प्रकासक रामू' में तुलसीके आराध्यके विश्वव्यापी स्वरूपकी झाँकी मिलती है।

व्यापक ब्रह्म अखंड अनंता। अखिल अमोघ एक भगवंता॥

—में ब्रह्मका निर्गुण रूप भासित होता है। वही 'गिरागोतीत', 'निर्गुण', 'निराकार', 'निर्मोह' ब्रह्म सगुण बनकर हमारे सम्मुख अवतरित होते हैं—

भक्त हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

जिस प्रकार अनेक वेश धारणकर नट नृत्य करता है, अनेकों भावोंका प्रदर्शन करता है, किंतु वह स्वयं उन्हीं भावोंका भोगी नहीं होता—उसी प्रकार ब्रह्म निर्लिप्त, अजर-अमर होते हुए भी मानवका शरीर प्रकट करके भक्तोंकी रक्षा-हेतु कौतुक करता रहता है। ब्रह्मके समस्त गुणोंका आरोपण तुलसीने अपने इष्ट-देवता राममें किया है।

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगत-हित कोसलपति भगवान॥

निर्गुण और सगुणकी इस प्रकार एकता करके तुलसीने सगुण रूपकी दुर्लभता बतलायी है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानै कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

रामका यह स्वभाव है कि वे किसीका अहङ्कार नहीं रखते। कारण यही है कि 'सकल सोकदायक अभिमाना।' बच्चेके शरीरमें व्रण हो जाता है—दयाद्रविता मा 'कठिन की नाईं' उसे चिरा देती है। इस प्राथमिक पीड़ाका अन्ततः परिणाम सौख्यप्रद होता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् भी हितके कारण अपने जनोंका अभिमान दूर कर देते हैं। भगवान्की जीवपर बड़ी ममता होती है; क्योंकि जीव ब्रह्मका ही तो अंश है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

जीव परवश है। भगवान्पर किसीका बन्धन नहीं। यों तो ईश्वर एवं जीव एक हैं, किंतु भेद केवल इतना है कि ईश्वर माया एवं प्रकृतिके स्वामी हैं और जीव उसमें लिप्त। अतएव जीव जब मायासे मुक्ति पाकर पुनः अपने अंशीमें मिल जाता है, तब उसे परम-पद प्राप्त होता है। जब प्राणी उस स्तरपर पहुँच जाता है, जिसके आगे कुछ भी प्राप्य ही नहीं है, तभी 'पद-निर्वाण' की स्थिति आती है। अतः सगुणोपासक तुलसीने भक्तको ज्ञानी, योगी, तपस्वी, विरक्त, संन्यासी, सिद्ध—सभीसे ऊँचा बताया है; क्योंकि इन सबमें भक्ति ही निर्भय तथा निश्चयरूपसे प्रभु-पद-दायिनी है। उन्होंने अनेक स्थलोंपर स्वयं भगवान्के मुखसे भक्तिकी प्रशंसा करायी है। भक्ति स्वतन्त्र है और अन्य साधनाएँ भक्तिके ही आश्रित हैं। भक्ति-पथकी निर्बाधताका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है कि भक्त सदैव अपने समक्ष आदर्शस्वरूप भगवान्की मूर्ति देखना चाहता है; इसीलिये वहाँ अहंभावके आनेके सभी द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। ज्ञानी ज्ञानके आधारपर ब्रह्ममें लीन हो जानेके स्वप्न देखता है और जब कभी उसे 'अहं ब्रह्माऽस्मि' का आभास मिलता है, उसमें अहंभाव एवं अभिमानका उदय हो जाता है। यही वह विन्दु है, जहाँ प्रकाण्ड ज्ञानियोंका भी पतन हो जाता है। भक्तिके निर्मल पथमें ऐसे विन्दुओंकी सम्भावना नहीं रहती। रामके सेवकोंको अविद्या प्राप्त नहीं होती—'प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापै बिद्या' अतः—

'तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥'

तुलसीके राम भी अपने प्रिय जीवोंको आदेश देते हैं कि 'मम-गुन-ग्राम-नामरत, गत ममता मद मोह' यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें योगिराज कृष्ण कहते हैं—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' फलतः—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
—क्योंकि
राकापति षोड़स उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि रात न जाइ॥

तुलसीके मायावादका सार है—'निजको निज प्रभुकी निजतामें निमज्जित कर प्रभुकी परमानन्दमयी अलौकिक आभामें तन्मय हो जाना।'

स्नेह जलता है

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'अच्छा तुम आ गये ?' माताके इन शब्दोंको आप चाहें तो आशीर्वाद कह सकते हैं; किंतु कोई उत्साह नहीं था इनके उच्चारणमें। उसने अपनी पीठकी छोटी गठरी एक ओर रखकर माताके चरण छुये और तब थका हुआ एक ओर भूमिपर ही बैठ गया।

'मा मुझे देखते ही दौड़ पड़ेगी। दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे चिपका लेगी। वह रोयेगी और इतने दिनोंतक न आनेके लिये उलाहनें देगी।' वर्षोंसे पता नहीं क्या-क्या आशाएँ, उमंगें, कल्पनाएँ मनमें पाले हुए था वह। 'मैं माके पैर छूऊँगा। अपने हाथों उसके नेत्र पोछूँगा। उसे मनाऊँगा। वह बड़े स्नेहसे मेरी एक-एक बात पूछेगी। मेरे लिये दौड़ेगी स्वयं चाय बनाने और मैं उसे मना करूँगा।' जाने कितनी बातें⋯⋯लेकिन क्यों वह ऐसी आशा करता था ? वह कौन-सी सम्पत्ति लेकर घर लौटा है कि उसका स्वागत हो, उसे स्नेह मिले। वह भड़कीले कपड़ोंमें आता, सबके लिये सुन्दर उपहार लाता, चमकते जूतेका मच्-मच् शब्द करता द्वारमें प्रवेश करता—अवश्य उसका स्वागत होता। वह मैले फटे-चिथड़े लपेटे, नंगे पैर, पीला-पीला चेहरा, रोगसे दुर्बल शरीर लिये मनहूसीकी मूर्ति बना आया है। घरमें अन्न नहीं है, इस वर्षका लगान दिया नहीं गया, बच्चोंके शरीरपर भी वस्त्र नहीं और सबकी जिसपर आशा अटकी थी, वही स्वयं भिक्षुक-सा बना आ पहुँचा है। घरकी समस्याएँ ही क्या कम हैं, अपना ही दुःख, अपना ही अभाव क्या छोटा है ? और ऐसी अवस्थामें जब वह भी एक प्राणीकी रोटीका भार बढ़ाने ही आया है—घरवालोंके सारे अभाव, सारे क्लेश जैसे आज नये हो उठे हैं। क्षोभ ऐसे बढ़ गया है, जैसे पके घावपर ठोकर लग गयी हो। उसका स्वागत ? सब गुमसुम हैं, सब नेत्रों एवं चेष्टाओंसे ही उपेक्षा व्यक्त करते हैं; कोई घरसे निकल जानेको नहीं कहता, यही क्या कम है।

'तुम अपना यह खजाना कहीं ऊपर रख दो।' चाय नहीं, जल नहीं, दो मीठे शब्दतक नहीं। कोई अपरिचित भी घरमें आया होता तो उससे पूछा जाता कि वह कहाँसे आया है। यहाँ अपने ही घर वह पूरे दो वर्षपर लौटा है और कोई उससे कुशलतक नहीं पूछता। उसकी वही स्नेहमयी भाभी झल्लाई, झुँझलाई कह रही हैं—'बच्चा आता होगा। कहीं तुम्हारे बहुमूल्य रत्न उठा न ले।'

कितना कष्ट सहकर, कितनी कृपणतासे वह भाभीके लिये एक साड़ी लेनेको कुछ पैसे बचा सका। बीमारीके पीछे दूधतक तो उसने लिया नहीं। 'भाभी हँसती-दौड़ती आयेंगी और मेरी गठरी उठाकर भाग जायँगी। मैं उन्हें रोकूँगा, खीझूँगा और वे मेरी लायी साड़ी पहिनकर मेरे लिये जलपान लिये अपनी कोठरीसे निकलेंगी।' उससे सदा हँसकर बोलनेवाली, अपने पुत्रके समान उसके भोजन-वस्त्रादिकी खोज-खबर लेनेवाली भाभी इतनी रूखी हो जायँगी, इसकी तो कभी स्वप्नमें भी उसे आशा नहीं थी। उसकी मैली छोटी गठरीमें एक उजली लाल किनारेकी तह की हुई साड़ी है, किसी दुर्बलके मलिन शरीरमें छिपे दया एवं सहानुभूतिसे पूर्ण निर्मल हृदयकी भाँति। किस साहससे वह अब उसे निकाले ?

'बच्चा आता होगा'—बच्चा मोहन ! भाभीकी बात कानोंमें टकराकर सूनी रह गयी। कल्पनाने एक दूसरा चित्र उपस्थित किया। जब चारों ओर रोष, तिरस्कार, उपेक्षाका अन्धड़ चल रहा है, एक शीतल झकोरा आता जान पड़ा। 'मोहन—नन्हा, गोल-मटोल, सुन्दर किलकता-सा मोहन !' छिः मनुष्य ! भगवान् काल क्या तेरी कल्पनाके लिये अपने पद रोके खड़े रहेंगे ? बच्चा युवक होता है, युवक वृद्ध होता है; किंतु वर्षों पीछे भी तू उसे अपने उसी पुराने रूपमें पानेकी आशा करता है ? मोहन अब वही एक वर्षका शिशु नहीं, वह तीन वर्षका हो गया है, यह तुझे क्यों स्मरण नहीं आता ?

'मोहन ! आओ भैया !' एक नंगा धूलि-भरा दुबला-सा गोरा बालक दौड़ता आया और अपने घरमें एक अपरिचितको देखकर सहमा-सा खड़ा हो गया उसी विचित्र मनुष्यको देखता हुआ। 'मैं तुम्हारा चाचा हूँ

भैया !' अब भी आशा थी कि बालक पहचान लेगा और समीप आ जायगा; किंतु बालकके नेत्र स्पष्ट कहते हैं—'तुम कौन हो ? मैं तो किसी चाचाको नही जानता। मुझे तुम्हारे पास डर लगता है। क्या पता तुम हौआ हो या भकौआ। मैं नहीं आऊँगा।'

'देखो, मैं तुम्हारे लिये घोड़ा लाया हूँ।' अब गठरी खोली गयी। लकड़ीका एक छोटा-सा लाल-हरा चमकता घोड़ा—बालकके नेत्र खिलौनेपर लग गये। बार-बार पुचकारनेपर डरता-डरता धीरे-धीरे आगे बढ़ा वह। हाथ बढ़ाकर खिलौना ले लिया उसने और चाचाने उसे गोदमें खींच लिया। बालक छटपटाने लगा गोदसे छूटनेके लिये। उसे अपना खिलौना चाहिये। चाचासे उसे कोई मतलब नहीं।

'मा! मा! मेरा घोड़ा!' दौड़ता हुआ बालक अपनी माताके पास पहुँचा।

'चल! घोड़ा ले आये हैं ये—दे दे उनका घोड़ा उन्हें।' माताने बच्चेके हाथसे छीनकर खिलौना फेंक दिया उसके सामने। पट्से करके वह गिरा और उस लकड़ीके घोड़ेका एक कान तथा एक पैर टूट गया। बालक सन्न हो गया। उसका मुख लटक गया और एक मिनट बाद उसके नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे। अन्तमें हिचकियाँ लेता हुआ वह माकी गोदमें ही मुख छिपाने दौड़ा; पर माने क्रोधसे झटक दिया भूमिपर उसे।

'भाभी!' उसके मुखसे और शब्द नहीं निकले। बायीं हथेलीपर मस्तक रखकर झुक पड़ा वह। उसे लगता है कि पूरी पृथ्वी घूम रही है–घूमती जा रही है।

'तुम ऐसे भूमिमें क्यों बैठे हो?' बड़े भाई पता नहीं कबसे आकर उसके सामने खड़े हैं। उसने उनके पैरोंमें सिर रख दिया और बच्चोंकी भाँति हिचकियाँ लेकर रोने लगा। 'उठो, चटाईपर बैठो! अरे, चाय तो ले आओ।' पत्नीको उन्होंने आज्ञा दी।

'भैया!' उससे बोला नहीं जाता है। उसके नेत्रोंकी धारा रुकती नहीं है।

'तुम बीमार हो गये थे?' बड़े भाईमें स्नेह है या नहीं, कहना कठिन है; किंतु शिष्टाचार तो है ही।

'मैं मरते-मरते बचा हूँ। मर-खपकर जो कुछ बचा पाया था, बीमारीकी भेंट हो गया।' उसने भरे कण्ठसे कहा—'भाग्यमें तुम्हारे चरणोंके दर्शन थे, इसीसे यहाँ पहुँच सका।'

'चलो, अब दो-चार दिनमें यहाँका हवा-पानी स्वस्थ कर देगा तुम्हें।' आश्वासन दिया बड़े भाईने और साथ ही घरका समाचार भी दिया—'लगान दो वर्षका बाकी है। पिछले वर्ष खेतोंमें कुछ हुआ ही नहीं। घरमें इस वर्ष कुछ भी नहीं है। उधारके अन्नसे कई महीनोंसे एक समय भोजन करके काम चलाया जा रहा है। पासमें दूसरे गाँवके जमींदार एक बाँध बनवा रहे हैं। अच्छी मजदूरी है। मुझे तो खेतोंसे अवकाश ही नहीं मिलता।'

'मैं कलसे ही वहाँ कामपर लग जाऊँगा।' वह और क्या कहे? दो वर्षपर घर लौटा है, लम्बी बीमारीने रक्त-मांस चूस लिया है और घरपर दो घूँट चाय मिलनेसे पहले ही उसे यह सब सुना दिया गया है, बड़ी शिष्टता एवं आत्मीयतासे। संसार जब उसकी हड्डियाँ खँखेड़ना ही चाहता है, भागकर कहाँ जायगा वह?

× × ×

पहाड़की तराईमें एक छोटा-सा गाँव है। मिट्टीकी दीवारें और फूसके छप्पर एक दूसरेसे सटे हुए छोटे-छोटे घर हैं चारों ओर कँटीली बाड़से घिरे हुए। समीपके वनसे चीता, शेर, तेंदुआ कभी-कभी रातमें इस घेरेबन्दीमें भी घुस पड़ते हैं और कोई पशु उठा ले जाते हैं। बकरियाँ, भैंसें और गायें—इनके गोबरसे पूरा गाँव ही गोष्ठ हो गया है। गाँवके एक ओर तो वन है; किंतु तीन ओर खेत हैं। ऊँची-ऊँची मेड़ें और उनपर सूखे काँटोंकी बाड़। इतना सब न किया जाय तो क्या सूअर और हिरन खेती बचने देंगे; फसलके दिनोंमें रात-रातभर जागकर शशक, सेही, शृगाल आदिसे रखवाली करनी पड़ती है।

सूखे मुख, दुर्बल देह, फटे मैले वस्त्र—कठोर श्रम करनेवाले ये ग्रामवासी किससे कम तपस्या करते हैं? किस तपोवनसे घटकर है इनका यह ग्राम? लेकिन कहाँ तपस्वीका निर्लिप्त आनन्दमग्न मानस और कहाँ······। मनुष्य तो मनुष्य ही है। वह नगरोंमें रहे या सुदूर वन्य ग्रामोंमें। वही दौड़-धूप, वही रोटी-कपड़ा, वही घर-खेत, वही स्त्री-बच्चे और चिन्ता, लालसा, श्रम—वासनाकी अशान्तिपूर्ण क्षुधा क्या स्थानभेदसे मन्द पड़ना जानती है?

इस छोटे गाँवमें एक छोटा-सा घर है। दो भाई,

उनकी एक वृद्धा माता, बड़े भाईकी स्त्री और उस स्त्रीकी गोदमें एक वर्षका एक घुँघराले बालोंवाला गोलमटोल गोरा सुन्दर शिशु । इतना परिवार है । पहाड़के पासके खेत वैसे ही बंजर होते हैं और फिर इस ओर वर्षाकी कमी प्रायः रहती है । परिवार दरिद्र है; किंतु है स्नेही । सब एक दूसरेसे सहानुभूति रखते हैं ।

रामनाथ यह पूरा नाम है उसका । मा और भैया उसे रामू कहते हैं और इसीसे गाँववाले भी उसे रामू ही कहते हैं । गठा हुआ पुष्ट शरीर है । नागपञ्चमीको जब एक महीना रह जाता है, गाँवके अखाड़ेकी उसीसे शोभा होती है । गाँवमें सभी उसका सम्मान करते हैं ।

'बेटा, तू भी कुछ काम किया कर खेतपर !' मा उसे यदा-कदा उपदेश करती हैं ।

'अभी तो वह बच्चा है, उसके खेलने-खानेके दिन हैं ।' बड़े भाई कभी उससे कुछ करनेको कहते नहीं । वह स्वयं कुछ करता है तो उसे मनाही करते हैं ।

'आज तुमने एक रोटी कम खायी है !' गरीबका घर है । भरपेट भोजन जिस दिन मिले, उस दिन पर्व समझना चाहिये; लेकिन भाभी स्वयं चाहे उपवास कर लें, उसके लिये पूरा भोजन बचा रखती हैं और बैठकर आग्रह करके भोजन कराती हैं उसे ।

मोहन—एक वर्षका छोटा-सा मोहन तो अपने चाचासे ही चिपका रहता है । रातको नींद टूटनेपर वह 'चाचा, चाचा' कहकर ही रोता है । रामूका सम्पूर्ण सुख तो मोहन ही है ।

'मैं रंगून जाऊँगा !' एक दिन अचानक रामूने घरको अपने प्रस्तावसे चौंका दिया । रंगूनसे लौटा है विजयपाल । सिरपर अंग्रेजी ढंगसे कटे सुन्दर बाल हैं, हाथोंमें एक सस्ती घड़ी बँधी है, शरीरपर उजले मलमलका कुर्ता है, पैरोंमें चमचम करता बूट है । रामू विजयपालसे मिल आया है । 'रंगूनमें रुपये तो जैसे बरसते हैं ।' पता नहीं क्या-क्या कहा है विजयपालने उससे । अब वह भी रंगून जायगा ।

मा रोती है । भैया कहते हैं—'तुम यहीं काम करो ।' भाभी रोक रही हैं और साथ ही पूछती भी हैं—'मेरे लिये क्या लाओगे ?' नन्हे मोहनको कुछ पता नहीं । चाचा उससे कहता है—'तेरे लिये घोड़ा लाऊँगा, हाथी लाऊँगा, पैरगाड़ी लाऊँगा !' वह हँसता है । उसे क्या पता कि रंगून कोई चिड़िया है, हिरन है या मिठाई है ।

'मैं रंगून जा रहा हूँ ।' पड़ोसके गाँवमें एक लड़की है; छिपकर रामूको उससे यह बात कहनी पड़ी, जब वह अपनी गायें वनमेंसे लौटा रही थी । उसने एक बार मुड़कर देखा रामूकी ओर और केवल 'हूँ !' कहा ! रामूको लगा कि उसकी आँखें भर आयी हैं । 'मैं जल्दी ही लौट आऊँगा । तेरे लिये बहुत-से गहने और रेशमकी साड़ियाँ लाऊँगा ।' रामूने साथ चलते-चलते कहा । उसने सिर झुका लिया । पैरोंकी गति बढ़ी या मन्द हुई, कुछ उलझनकी बात है । रामू और वह बचपनसे साथ खेले हैं । वनमें दोनों साथ बकरियाँ चराते थे और झरबेरी एकत्र करते थे । लेकिन अब उसकी रामूके साथ मँगनी हो गयी है । अब बात बदल गयी और सम्भवतः बदली बातने गूँगी कर दिया उसे । वह गूँगी हो नहीं गयी है, केवल रामूके पास रहनेपर गूँगी हो जाती है ।

अन्तमें विजयपालके साथ रामू रंगूनके लिये चल पड़ा । बड़े भैया उसे स्टेशनतक पहुँचा गये । गाँवसे दूरतक तो बहुत-से लोगोंने पहुँचाया था । जब गाड़ी स्टेशनसे चल पड़ी, उसके नेत्रोंसे अश्रु टपक रहे थे । विजयपाल रंगूनके किस सुयशका वर्णन कर रहा है, इसका उसे तनिक भी ध्यान नहीं था ।

× × ×

वह रंगून अपने लिये—अपने सुखके लिये गया ? उसका अन्तरात्मा जानता है या फिर घट-घटकी जाननेवाला जानता है । अपनी जन्मभूमि, अपने संगी-साथी, अपना सौहार्दपूर्ण परिवार छोड़नेमें उसे कितनी व्यथा हुई थी, वही जानता है । रंगून पहुँचनेपर भी कई दिनोंतक उसे घरकी स्मृति ही दिन-रात बनी रहती थी । न भोजन अच्छा लगता था, न वस्त्र । किसीसे बोलना अखरता था । भरे-भरे नेत्र देखकर आस-पासके लोग समझाते और कभी-कभी परिहास भी करते थे ।

घर छोड़कर वह गया था, उसे जाना पड़ा था कहना ठीक होगा । बड़े भाई दिनभर श्रम करते थे और इतनेपर भी दोनों समय पेट भरनेको सूखी रोटी जुटती नहीं थी । भाभीकी साड़ीमें रोज एक पैबंद बढ़ता जाता था । नन्हे मोहनको पिलानेके बदले बकरीका दूध बेचना पड़ता

था। दूध बेचा न जाय तो लगान कहाँसे आवे ? वह कबतक यह सब देखता ? उससे कोई कुछ कहता नहीं था; किंतु उसके भी तो नेत्र थे।

रंगूनका वैभव—वहाँकी चकाचौंध, लेकिन वह सब सच होकर भी उसके लिये स्वप्न था। उसे तो एक छोटी-सी गंदी कोठरी, दिनभर हड्डीतोड़ परिश्रम और रूखी रोटी या उबला चावल नमकके साथ मिलता था। सब उसका परिहास करते थे। सब उसे कृपण बतलाते थे। एक-एक कौड़ी दाँतसे पकड़ना सीख गया था वह। परिश्रम और पैसा—उसके भाई, उसकी भाभी, उसके भाईका नन्हा पुत्र मोहन—और वह उन सबके लिये ही तो रंगून आया है। वह पैसा जोड़नेमें जुट गया है। एक पैसेका साग लेना या सिरमें अधेलेका तेल डाल लेना उसे बहुत बड़ा अपव्यय जान पड़ता है। वह यहाँ क्या सुख भोगने आया है ?

विजयपालने अब उससे मिलना भी बंद कर दिया है। वह स्वस्थ है, देखनेमें सुन्दर है, उसका शरीर सुगठित है। विजयपाल उसे अपने साथ कुछ आशा लेकर ही तो लिवा लाया था। एक अच्छी धनी बर्मी स्त्री उससे विवाह कर लेगी। वह धनी हो जायगा और विजयपालको भी लाभ होगा। अधिक नहीं तो वह उसके धानके खेतों और बगीचोंका प्रबन्धक ही बन जायगा। अधिकांश भारतीय ऐसा करते हैं। बर्मामें विवाह करके रहना और वहाँसे स्वदेश सम्पन्न होकर लौटना—एक कुप्रथा बन गयी है। बर्मी स्त्री-बच्चोंको तो साथ लाना नहीं पड़ता, स्वदेशमें कौन जानता है कि किसने कहाँ क्या किया था! लेकिन रामनाथ है कि उल्टेसे सीधा होना जानता ही नहीं। विजयपालने सब साँठ-गाँठ बैठा ली है; किंतु रामू तो गाँवकी उस बकरी चरानेवालीको प्राण दिये बैठा है। भला, वह कहाँ भागी जाती है! रुपये लेकर जायगा तो उसके पिता नाक रगड़ेंगे इसके पैरोंपर, लेकिन इस गँवारको कौन समझाये ? यह तो कहता है—'कोई जाने या न जाने, धर्म तो जानता है। मैं किसीको धोखा दूँगा तो भगवान् मुझे कैसे क्षमा करेंगे ? मुझसे यह सब नहीं होगा। अपने पसीनेकी कमाई ही मुझे लेनी है। पाप और बेईमानीका पैसा मुझे नहीं चाहिये।'

चोरोंके समूहमें रहकर कोई चोरी न करे तो क्या चैन पायेगा ? जब समाजमें ही पाप घर कर जाता है, तब सत्पुरुषोंको संकट उठाने—तप करनेके लिये तत्पर रहना ही चाहिये। रामनाथ जहाँ काम करता है, विजयपाल तथा उसके साथी वहींसे उसका टिकट कटा देनेके प्रयत्नमें लगे रहते हैं। वह तो अपने परिश्रम और धैर्यसे टिका है। उसके संयम एवं कृपणताने उसके संगी-साथी रहने ही नहीं दिये हैं।

कोई भाग्यको क्या करे ? कठोर परिश्रम, रूखा तथा अपर्याप्त भोजन, नन्ही गंदी कोठरीमें मुरगी-सा बंद रहना, समुद्री नगरका अनभ्यस्त जलवायु—रामनाथ दुर्बल होता गया। बार-बार ज्वर आने लगा उसे। गरीबोंकी शुश्रूषा और चिकित्सा जैसी हो पाती है, संसार जानता है। रामनाथ विदेशमें अकेला और उसपर भी अत्यन्त कृपण। जितना वह जोड़ पाता उसका एक बड़ा भाग ज्वर आनेपर बहुत काट-कपट करनेपर भी व्यय हो जाता। अन्तमें वह गिर पड़ा चारपाईपर और पूरे छः महीने चलने-फिरने योग्य होनेमें लगे।

'तुम यदि जीना चाहते हो तो अपने घर चले जाओ!' सभी एक ही सलाह देते हैं।

'बड़े भाई, भाभी, मोहन' रामनाथको जीना तो है। उसके चित्तमें स्मृतियोंका प्रवाह चल रहा है। अन्तमें परिचितोंने एक दिन कलकत्ते जानेवाले जहाजमें बैठा दिया उसे।

'तुम्हारे रंगून आनेके छः महीने पीछे चौधरीने अपनी लड़कीकी सगाई अन्तूसे कर दी। तुम्हारे भाईसे खेतके पानीको लेकर लड़ाई हो गयी थी उनकी!' कलकत्तेमें गाँवके कई लोग रहते हैं। रामनाथ उनके पास आया तो उसे यह समाचार मिला—'पिछले वर्ष उसका विवाह भी कर दिया चौधरीने।'

विपत्ति अकेली नहीं आया करती। इस समाचारका प्रभाव कहिये, समुद्री-यात्राका कारण कहिये या भोजनादिकी मार्गकी गड़बड़ी बताइये, रामू कलकत्तेमें ही बीमार हो गया। उसे सरकारी अस्पतालमें भरती कराना पड़ा। जब वह एक महीने बाद अस्पतालसे निकला, उसकी रही-सही पूँजी भी समाप्त हो गयी थी। उसके कपड़े फट गये थे; किंतु अब उसके पास पैसे कहाँ थे नये कपड़े बनवानेको।

'रामू अस्पतालमें बीमार है' रामूके भाईको घरपर यह समाचार मिल गया था। खेत सींचने हैं, बोने हैं, घरकी मरम्मत न हो तो वर्षामें टिकेगा ही नहीं वह और कलकत्ता

गाँवकी सीमाके उस पार तो है नहीं। एक गरीब कृषकको इतनी बड़ी यात्रा करना परलोककी यात्रा प्रतीत होती है, यह बात नित्य रेलोंमें ही घूमनेवाले या हवाई जहाजसे फुर्र होनेवाले कैसे समझ सकते हैं।

जैसे बीमारी बिना बुलाये आयी थी; विदा करनेकी प्रतीक्षा किये बिना चली भी गयी। गरीबोंका चिकित्सक भाग्य ही होता है, रामूको तो अस्पताल भी मिल गया था। लेकिन वह स्वस्थ होकर प्रसन्न हुआ, यह कहना उसके साथ अन्याय करना होगा।

× × ×

'बाबा! अब आप ही मुझे शरण दो।' गाँवसे कोस-भर दूर वनमें एक झरनेके पास भगवान्‌का मन्दिर है; एक वैष्णव संत वहाँ रहते हैं। पासके गाँवोंसे कच्चा अन्न माँग लाते हैं। यह एकान्त बहुत अनुकूल जान पड़ता है भजनके लिये। रामनाथ सायंकाल ग्रामसे चलकर मन्दिरपर आया और गिर पड़ा संतके चरणोंमें। फूट-फूटकर रो रहा था वह। 'मैं यहाँकी सब सेवा करूँगा। आप जो आज्ञा करेंगे, प्राण देकर भी उसे पूरा करूँगा। मुझे अब घरमें नहीं रहना है।'

आज ही रामनाथ दो वर्षपर घर लौटा है और आज ही घरसे यह विरक्ति? लेकिन कौन है घरपर जो उसके आनेसे प्रसन्न हुआ हो? किसे उससे स्नेह है? एक कल्पना—एक भावुकता थी मनमें और घरसे निकल पड़ा था वह। वह चौधरीकी लड़की, उसकी··नहीं, नहीं, अन्तूकी स्त्री कुएँसे जल लेकर लौट रही थी। रामनाथको देखकर भी उसने देखना नहीं चाहा। उसके पैरोंकी गति बढ़ गयी।

'तुम भी मुझे पहचानती नहीं हो?' रामनाथ पास चला गया।

'दूसरेकी स्त्रीसे रास्तेमें इस प्रकार बोलते तुम्हें लज्जा नहीं आती?' डाँट दिया उसने—'तुम गाँवके नाते उनके भाई लगते हो, सो जानती हूँ। दरवाजेपर आओगे तो हुक्का चढ़ाकर दे दूँगी।' रामनाथके पैर वहीं भूमिमें गड़-से गये। वह नहीं देख सका कि किसीने उसे मुड़कर देखा भी या नहीं देखा। वहाँसे वह सीधे ही मन्दिरके लिये चल पड़ा। अब उसे पूरा संसार सूना जान पड़ता है।

'संसार जिन्हें धक्का देकर निकाल देता है, वे भगवान्‌की शरणमें आते हैं।' संत जैसे अपने-आपसे कह रहे थे—'लेकिन कम ही होते हैं जो फिर संसारके पुकारनेपर उधर न दौड़ जायँ। बहुधा वे स्वयं दूसरे मार्गसे उसी संसारको बार-बार पकड़नेका प्रयत्न करते हैं। वैराग्य तो उनकी वस्तु है जो संसारको झटककर आते हैं।'

'बाबा, आप मुझे मन्त्र दे दो।' रामनाथ रोते हुए आग्रह कर रहा था—'मैं अब आपके चरण छोड़नेवाला नहीं हूँ।'

'तुम साधु बनकर क्या करोगे?' संतने पूछा।

'भगवान्‌का भजन करूँगा और आपकी सेवा करूँगा।' रामनाथने बिना किसी संकोचके कहा।

'भगवान्‌का भजन तो ऐसे होता नहीं।' संत समीप ही आसनपर बैठ गये। 'सेवा अवश्य तुम कर सकते हो। इस प्रकार किसीको साधु बनानेका अर्थ बिना मजदूरी दिये एक मजदूर पानेका प्रयत्न करना है।'

'बाबा! भेड़ तो जहाँ जायगी, वहीं मुड़ेगी।' रामनाथको संतकी बातका बुरा नहीं लगा। 'मैं घरपर भी मजदूर ही था, आपकी सेवा करूँगा तो पुण्य तो होगा! घरकी मजदूरी तो गधेको अन्न खिलाना भी नहीं रही।'

'लेकिन साधु किसीको केवल अपनी सेवाके लिये साधु बनावे, यह बहुत बड़ा पाप है।' संतने कहा—'साधुका वेश भजनका वेश है।'

"मैं भजन करनेको 'ना' कहाँ कहता हूँ।" रामनाथने आग्रह किया।

"अच्छा तुम यहीं बैठो और रातमें सोनेका समय होने-तक 'राम-राम' कहते रहो। रोटियाँ मैं तुम्हें दे दूँगा।" संतने समझानेका उपाय सोच लिया।

'राम, राम, राम, राम' रामनाथ कबतक 'राम-राम' करता रहे। दो मिनट, चार मिनट, दस मिनट। वह ऊब गया। इधर-उधर देखने लगा। अन्तमें आधे घंटेमें ही उठ खड़ा हुआ। 'आप मुझे कोई सेवा बताओ! इस प्रकार मुझसे बैठे नहीं रहा जायगा।'

'यही मैं कहता था कि भजन इस प्रकार नहीं होता।' संतने समझाया—'भजन करना बहुत उत्तम है; किंतु उसे कायदेसे सीखना पड़ता है। जो घरपर भजन नहीं करता, घर छोड़नेपर उससे भजन नहीं हो सकता। तुम मेरी बात मानोगे?'

'अवश्य मानूँगा।' रामनाथने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया।

'देखो, परदेशमें तुम बराबर भाई, भाभी, भतीजे आदिका स्मरण करते थे। उस समय तुम मोहवश उनका स्मरण करते थे।' संत धीरे-धीरे समझा रहे थे। 'अब भी तुम उन्हींका स्मरण कर रहे हो। अब तुम यह सोच रहे हो कि वे सब कितने निष्ठुर हैं। यदि तुम घर इस समय छोड़ दोगे तो यह स्मरण बना ही रहेगा। यह भी स्नेहका ही फल है और यह तुम्हें जलाता ही रहेगा।'

'पहले भी मैं जलता ही रहा हूँ।' रामनाथको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे लगा कि साधुने उसके चित्तकी बात जान ली है। उसकी श्रद्धा बढ़ गयी।

'अरे भाई! दियेमें जबतक तेल है, तबतक वह जलेगा ही!' साधु कह रहे थे—'जबतक चित्तमें संसारका स्नेह है, तबतक वह जलता रहेगा। इस स्नेहको निकाल देनेका उपाय यह है कि तुम घर लौट जाओ। अब तुमको घरके लोगोंके प्रेमका रहस्य ज्ञात हो गया है। अब वे फिर जब तुम्हारा आदर-सत्कार करने लगें, तब भूलना मत कि अपने स्वार्थवश ही वे ऐसा कर रहे हैं। तुम घरपर काम करो। बचपनसे अबतक उन लोगोंने तुम्हारा पालन-पोषण किया है, उनकी सेवा करना तुम्हारा कर्तव्य है। उनके पास रहकर उनकी सेवा कर्तव्य समझकर करते रहो और भगवान्‌के नामका जप करनेका अभ्यास करो। ऐसा करनेसे भजन होने लगेगा और मनमें जो मोहरूपी स्नेह है, वह दूर हो जायगा।'

'आप मुझे घर न भेजें।' रामनाथ कातर हो रहा था।

'तुम अपनेको आजसे साधु ही मानो!' संतने कहा। 'घरके लोगोंकी सेवा मेरी बात मानकर करो। घरपर ऐसे रहो, जैसे वह तुम्हारा घर नहीं है। तुम वहाँ अतिथि बनकर रहते हो। घर तो उन लोगोंका है। वे जैसा करें, जो चाहें—उनमें तुम उनका अनुमोदन और सहायता करो।'

रामनाथ घर लौट आया। वह गृहस्थ साधु—उसकी शान्ति, उसका आनन्द तबतक कैसे जाना जा सकता है, जबतक स्नेहकी ज्वालासे मुक्त होकर अपने घरमें ही कोई अपनेको स्थायी अतिथि नहीं बना लेता।

श्रीभगवन्नाम-जप

गतवर्ष 'कल्याण'के प्रेमी तथा श्रद्धालु पाठक-पाठिकाओंसे नाम-जप करने-करवानेके लिये प्रार्थना की गयी थी। बड़े ही हर्षकी बात है कि सदाकी भाँति इस बार भी 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंने हमारी प्रार्थनापर ध्यान दिया और नाम-जप करने-करानेमें बड़ी तत्परताके साथ प्रयत्न किया। हमारे पास जो सूचनाएँ आयी हैं, उनमेंसे, ऐसा सन्देह है कि सब लिखी नहीं गयी हैं, तथापि जितनी लिखी गयी हैं, उनके अनुसार भारतके सभी प्रान्तोंमें जप हुआ है। जप-स्थानोंकी संख्या ६२७ है और मन्त्र-जपकी संख्या है—२२,३८,७४,३००; इनकी नाम-संख्या ३,५८,१९,८८,८०० (तीन अरब अट्ठावन करोड़ उन्नीस लाख अट्ठासी हजार आठ सौ) होती है। इस सन्देह, अश्रद्धा, अविश्वास और मिथ्या तर्कके भयानक कालमें भी इतना भगवन्नाम-जप हुआ, यह भगवान्‌की कृपाका द्योतक है और इससे यह सिद्ध है कि नास्तिकताका पूरा प्रभाव अभी देशमें नहीं फैल पाया है। विश्वहित और आत्महितके लिये जिन महानुभावों और महाभागा देवियोंने स्वयं जप किया है, दूसरोंको प्रेरणा करके करवाया है, हम उनका हृदयसे साधुवाद करते हैं और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

एक बड़ा लाभ इस बार भी यह हुआ है कि बहुत-से सज्जनोंने जीवनभरके लिये नाम-जप करनेका निश्चय कर लिया है। जपकी जो संख्या ऊपर लिखी है, वह पूरी नहीं है। कई सज्जनोंने तो संख्या लिखी ही नहीं। कुछ सूचनाएँ लिखी नहीं गयीं। इसके सिवा सोलह नामके मन्त्रके अतिरिक्त दूसरे भगवन्नामोंका भी बहुत जप हुआ, वह भी इसमें शामिल नहीं है। भारतके अतिरिक्त एशियाके तथा यूरोपके देशोंमें भी जप हुआ है, यह सौभाग्यका विषय है। स्थानोंके नाम इस बार जगहकी कमीसे नहीं दिये गये, अगले अङ्कमें देनेका विचार है।

नाम-जप-विभाग—'कल्याण'-कार्यालय

पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

(१)

पुराना सब बुरा, नया सब अच्छा

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। समाचार विदित हुए। 'आपको यह विश्वास हो गया है कि पुरानी बातें सभी घृणित थीं और नयी सभी अच्छी हैं और इसलिये आप नवीनताके उपासक और प्राचीनताके विनाशक बन गये हैं।' इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपको ही नहीं, आज बहुतोंको दुर्भाग्यवश ऐसा ही विश्वास न्यूनाधिक-रूपमें हो रहा है। 'नवीनता'के और 'प्रगति' के मोहक नामोंपर आसुरी भावोंका आना तो बहुत ही सहज है, अनेकों बार तो कर्तव्य, नीति, धर्म और अध्यात्मके नामपर भी आसुरी शक्तियाँ अपना काम किया करती हैं। जब मनुष्यकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, तब उसे सब कुछ विपरीत ही भासता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
> सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
> (१८।३२)

'अर्जुन! जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है एवं सारे ही अर्थोंको (सभी बातोंको) विपरीत ही देखती है, वह बुद्धि तामसी है।'

यह कोई नहीं कह सकता कि पुरानी बातें सभी अच्छी थीं और उनका अंधे होकर अनुसरण करना चाहिये या नवीन जगत्‌की प्रत्येक वस्तुका बहिष्कार ही करना चाहिये। ऐसा कहना न तो बुद्धिमत्ता है और न व्यावहारिक ही। जगत्‌में बहुत-से दोष हैं, उनको हटाना भी परम आवश्यक है। परंतु जैसे अन्धे होकर प्राचीनका अनुसरण बुरा तथा हानिप्रद है, वैसे ही अन्धे होकर पुरातनका त्याग और नवीनका ग्रहण भी अत्यन्त अनिष्ट और हानिप्रद है। इस समय जगत्‌में आसुरी शक्तियोंका बड़ा प्राबल्य है; वे उन्नति, प्रगति, सुधार, उद्धार, समत्व, आर्थिक समुन्नति आदि अनेकों मोहन रूपोंमें जनतापर आक्रमण कर रही हैं और बड़ी ही चतुराईसे विषयवासना, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा और छल-कपटकी मायाका जाल फैला रही हैं। कोई वस्तु पुरानी है, इसीलिये उसका नाश कर देना चाहिये, चाहे वह सत्य, शिव और सुन्दर ही हो, यह एक प्रकारका पागलपन है; इससे सावधान रहना चाहिये। पर क्या किया जाय। आसुरी भावनाकी (माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः) मायाने ज्ञान हर जो लिया है। भगवान्‌की ओर जाते हुए समाजको माया-मुग्ध करके कल्याणमार्गसे विमुख कर देना, मानवको विलास-वैभव और वैर-हिंसाके विष-भरे स्तरपर पहुँचानेका प्रयास करना, नाना प्रकारके कपट-छलसे उसे नीचे गिरा देना—आसुरी शक्तियाँ बड़ी आतुरतासे इसीकी बाट देखा करती हैं और अवसर पाते ही अपना काम बड़ी प्रबलतासे शुरू कर देती हैं। तमोमयी आसुरी शक्तियोंके प्रयासका ही फल है कि आज समता, उन्नति, सुधार, समाजके आर्थिक अभ्युदय, मनोरञ्जन, उच्चस्तरके जीवन-निर्माण आदि नामोंपर भ्रष्टाचार, अनाचार, चोरी, डकैती, कलह, वैर, संहार, दलबंदी, सहस्रों वाद और मत, असंतोष और अशान्ति आदिका उद्दण्ड नग्न नृत्य हो रहा है और उसीको जागृति, उन्नति, प्रगति, विकास, समत्व आदिका नाम देकर मिथ्या गर्व किया जा रहा है! यहाँतक कि ललिताकला—जैसे चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला आदिको सांस्कृतिक प्रतीक बताकर असंयतरूपमें उनका प्रचार-प्रसार करके जगत्‌में कामुकता, उच्छृङ्खलता, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, अनाचार और असत्य आदिको

गर्व तथा गौरवके साथ अपनाया जा रहा है। धर्म तथा ईश्वरके भयकी बात तो रही ही नहीं। ऐसे कामोंके लिये कानूनी छूट चाही जाती है और वह दी भी जा रही है। गंदे चित्र, गंदे गाने, नग्ननृत्य, भले घरोंकी कन्याओंका सिनेमाकी अभिनेत्री बननेमें उल्लास-उत्साह, समाजमें उनका गौरव, विद्यार्थी और अध्यापक समाजमें भी उनकी प्रतिष्ठा-पूजा तथा सत्कार, सफाईके साथ चोरीसे धन कमानेकी प्रवृत्ति और ऐसे सफल धनिकोंका समाजमें सम्मान आदि सब तमोमय विपरीत दर्शन आसुरी शक्तियोंके प्रबल षड्यन्त्र और उनके बाहर-भीतर मोहक रूपसे आक्रमणका ही परिणाम है। इसीसे पवित्र, सुन्दर, सत्य और कल्याणकारी भी प्राचीनमें अविश्वास एवं घृण्य तथा सर्वथा अपवित्र, अंदरसे अपार असुन्दर, मिथ्या और हानिकारक भी अर्वाचीनमें विश्वास एवं प्रीति हो रही है! भगवान्ने आसुरी सम्पत्तिके तीन रूप बतलाये हैं—मोहिनी, आसुरी और राक्षसी। 'मोहिनी' 'काम'में फँसाती है, 'आसुरी' 'लोभ'में और 'राक्षसी' 'क्रोध'में। ये काम, क्रोध, लोभ ही आत्माका पतन करके उसे नरकानलमें जलानेवाले हैं। भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार तथा आत्माका नाश करनेवाले हैं। इससे इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये।'

आज व्यष्टि-समष्टि सभी इन त्रिविध वैरियोंके वशमें होकर अपना सर्वनाश कर रहे हैं। इसीका फल महान् दुःख है, जिससे सारा जगत् संत्रस्त है और इसी कारण जगत्में अभी दुःखोंकी और भी भयानक बाढ़ आनेकी सम्भावना है! इन बुराइयोंसे छूटनेका एक ही उपाय है—वह है भगवान्की शरणागति—भगवान्का भजन। भगवान्ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७। १४)

'मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष मेरे शरण हो जाते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।'

मायासे तरनेका यह उपाय तो कोई करता नहीं, और जिससे दुःख-संताप बढ़ते हैं, नरकाग्निमें जलना पड़ता है, सांसारिक विषयोंसे, सुखकी मिथ्या आशासे होनेवाले उस काम-क्रोध-लोभके आश्रयको कोई छोड़ता नहीं; तब कैसे जगत्का वास्तविक सुधार-संस्कार होगा, कैसे असली समत्वकी प्राप्ति होगी, कैसे सुख होगा और कैसे सच्ची शान्ति होगी?

आपको बुरा लग सकता है, पर सत्य यही है कि तमोगुणके प्रभावसे आपकी बुद्धि सब कुछ विपरीत देख रही है और आपके वास्तविक लाभके लिये इससे छुटकारा पाना आपके लिये नितान्त आवश्यक है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

चोरी-डकैतीसे प्राप्त धनकी पूजा चोरी-डकैतीकी ही पूजा है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण।

आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद! आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

समाजमें अनाचार, चोरी, छल, विश्वासघात आदि बढ़नेका प्रधान कारण है—विषयसुखमें विश्वास तथा अनाचार, चोरी, छल एवं विश्वासघातसे रुपये पैदा करनेवालोंका समाजमें सम्मान-सत्कार और प्रतिष्ठा। चोरी-डकैतीसे प्राप्त धनकी और ऐसे धनिकोंकी पूजा वस्तुतः चोरी-डकैतीकी ही पूजा है। समाजके सब लोग अच्छी तरह जानते हैं, अमुक व्यक्ति इस-इस प्रकारसे पाप करके पैसे कमाता है और धनवान् बन

जानेपर समाजमें सर्वत्र उसकी पूछ, प्रतिष्ठा, उसका सम्मान-सत्कार होता है; यहाँतक कि बड़े-बड़े विद्वान्, नेता, उच्च अधिकारी, धार्मिक पुरुष, साधु-महात्मा—सभी बड़ी-बड़ी सभाओंमें उसका सम्मान करते हैं, तब सभीकी इच्छा होती है कि हम भी ऐसे ही पैसे कमाकर इस प्रतिष्ठाको प्राप्त करें। सबके मनसे पापकी भावना मिट जाती है। रह जाती है, केवल किसी प्रकार भी (अन्याय, असत्य, परस्वापहरण, चोरी, घूस, हिंसा आदि उपायोंसे) पैसा पैदा करनेकी अदम्य लालसा। इसी कारण इतने पाप होते हैं। खाने-पीनेके पदार्थोंमें तथा दवाइयोंमें भी नकली चीजें मिलायी जाती हैं, नकलीको असली बनाकर बेचा जाता है, फिर उनका सेवन करनेवाले भले ही बीमार हो जायँ या तुरंत ही मर जायँ; यह राक्षसीपन इसीलिये आ गया है कि अशुद्ध धनको समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। उसके लिये कोई भी नैतिक या सामाजिक दण्ड नहीं है। समाजका सबसे बड़ा दण्ड होता है 'किसीसे घृणा करना।' अब घृणा कौन करे—घृणा मनसे होती है, पर जब सभी लोग यही करते हैं और करना चाहते हैं तब ऐसा करनेवालेके प्रति किसके मनमें कैसे घृणा होगी।

२—पापकर्म बनना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। मनुष्य दुर्बल प्राणी है। मन, इन्द्रिय उसके वशमें नहीं हैं, वह परिस्थितिसे बाध्य है। इससे अनिच्छा होनेपर भी परिस्थिति, अभ्यास या आसक्तिवश पाप बन जाता है। यहाँ देखना तो यह है कि पापसे उसका मन घबराता है, घृणा करता है, पाप उसके हृदयमें शूल-सा चुभता है एवं उसे पश्चात्ताप होता है अथवा वह उत्साहसे रतिपूर्वक पाप करता है, पाप उसे प्रिय प्रतीत होता है एवं पाप करके वह गर्व-गौरवका अनुभव करता है। यदि पापमें घृणा है और पाप करनेके बाद हृदय जलता है तो उसके लिये उपाय है—सीधा उपाय है। वह उपाय है दयासागर भगवान्‌की दयापर विश्वास करके उन्हें पुकारना—प्रार्थना करना। यह कहना कि 'भगवन्! मेरा मन वशमें नहीं है, इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, मेरे हृदयमें विषय-वासना भरी है, इच्छा न होनेपर भी अवसर आनेपर मैं अपनेको सँभाल नहीं पाता। पापमें प्रवृत्त हो जाता हूँ और उस समय मुझे उसमें सुख मिलता है। परंतु नाथ! आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं—पीछे मैं जला करता हूँ। अभी भी मेरा हृदय पापके पश्चात्तापसे जल रहा है। आप शक्ति दीजिये। दया करके मुझे पापसे बचाइये, मेरी रक्षा कीजिये। पापका अवसर आनेपर मैं पापपर प्रहार करके उसपर विजय पा सकूँ—ऐसी ही व्यवस्था कर दीजिये। मैं केवल आपके भरोसे हूँ। मुझ-सरीखे बार-बार पाप-पङ्कमें फँसनेवालेपर, आपके सिवा दूसरा कौन है, जो सौहार्द रक्खे, जो दया करे। एकमात्र आप ही ऐसे हैं, जिनका दिव्य द्वार मुझ-सरीखे पापी-तापीके लिये भी सदा खुला है, जिनकी गोद मुझ-सरीखे मलायतन नीचको भी स्थान देनेके लिये सदा तैयार है। मैं कहाँ जाऊँ, मेरी सुननेवाला आपके सिवा और कौन है?' इस प्रकारके निश्चय-से कातरताके साथ ऐसी प्रार्थना करनेपर तुरंत सुनवायी होती है। भगवान् पापोंको नहीं देखते, वे देखते हैं हृदयके वर्तमान यथार्थ भावको। और जब सच्चा विश्वास देख पाते हैं, तब तुरंत उसे अपनाकर उसके पाप-तापों-का नाश कर उसे अपना भक्त बना लेते हैं और उसके लिये सनातनी शान्तिका मङ्गल-विधान करके उसके भक्त होने तथा कभी पतन न होनेकी घोषणा कर देते हैं। देखिये गीताके नवम अध्यायके तीसवें-इकतीसवें दो श्लोकोंको—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

'यदि अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी अनन्यभावसे मेरा आश्रय करके मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है। वह तुरंत ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमा शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम सत्य जानो—मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

अतएव घबराने तथा निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है, सच्चे भावसे भगवान्‌को पुकारिये। पापोंका नाश हो जायगा, आप भक्त बन जायँगे। परंतु इसलिये प्रार्थना मत कीजिये कि जिससे आपको पाप करनेमें सुविधा हो जाय। 'नित्य पाप करते जाओ और प्रार्थनासे उसे धोते जाओ'—यह धोखा है। जो प्रार्थनाके बलपर पाप करना चाहता है, उसके पाप वज्रलेप हो जाते हैं। शेष भगवत्कृपा।

(३)

नारीका गुरु पति ही है

प्रिय बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि जब किसी भी पुरुषको गुरु बनाना और उनकी शरण लेना स्त्रीके लिये पाप है, तब भगवान्‌को गुरु बनाना और उनकी शरण होना भी तो पाप ही होगा? क्योंकि भगवान् भी तो पर-पुरुष हैं। इसके उत्तरमें निवेदन है कि पतिव्रता स्त्रीके लिये तो शास्त्रोंकी यही आज्ञा है कि वह केवल पतिको ही गुरु माने और पतिमें ही परमेश्वर-बुद्धि करके उसकी सेवा करे। स्त्रीका गुरु एकमात्र पति ही है। बृहन्नारदीय पुराणमें कहा गया है—

भर्ता नाथो गतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेव च।
(उत्तरभाग १४। ४०)

पति ही स्वामी है, पति ही गति है, पति ही देवता और गुरु है।

स्कन्दपुराण काशीखण्ड तथा ब्रह्मपुराणमें उल्लेख है—

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्॥
(स्क० का० ४। ४८)

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥
(ब्रह्म० ८०। ४७)

पति ही देवता, पति ही गुरु और पति ही धर्म, तीर्थ तथा व्रत है। इसलिये सबको त्यागकर एक पतिकी ही भलीभाँति सेवा-पूजा करे।

ब्राह्मणोंके लिये अग्नि गुरु है, वर्णोंमें ब्राह्मण गुरु है, स्त्रियोंका पति गुरु है और अभ्यागत सबका गुरु है।

भगवती सीताजीने कहा है—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥
(वा० रा० ७। ४८। १७)

'स्त्रीके लिये तो पति ही देवता, पति ही बन्धु तथा पति ही गुरु है। अतएव प्राण देकर भी नारीको विशेषरूपसे पतिका प्रिय कार्य करना चाहिये।'

पद्मपुराणमें पतिव्रताशिरोमणि देवी सुकलाके इतिहासमें भगवान् विष्णुके राजा वेनके प्रति वचन हैं—

भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह।
भर्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृपनन्दन॥
(भूमि० ४१। ७५)

'राजन्! पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवताओंसहित उसका इष्ट देवता एवं पति ही तीर्थ तथा पुण्य है।'

इसलिये स्त्रीको पतिरूपमें ही परमेश्वरकी सेवा करनी चाहिये। तथापि स्त्री यदि भगवान्‌की पूजा-अर्चना करे तो उसमें कोई दोषकी बात नहीं है; क्योंकि भगवान् सबके अन्तरात्मा हैं, प्रियतम हैं, स्वामी हैं, सद्गुरु हैं तथा सर्वस्व हैं। अतएव परमात्माकी सेवासे सतीत्वमें कोई बाधा नहीं आती, वे परपुरुष नहीं हैं,

वे तो अपने आत्मा ही हैं। हाँ, परमात्मा बननेवाले मनुष्योंसे जरूर सावधान रहना चाहिये; क्योंकि वे निश्चय ही परपुरुष हैं और उनकी सेवासे सतीत्वकी मर्यादापर आघात लगना सम्भव है। अपने लिये तो भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'अर्जुन! पाप-योनिवाले प्राणी भी हों तो वे भी तथा स्त्री, वैश्य और शूद्रादि भी मेरे शरण हो जायँ तो वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये भगवान्‌की उपासनामें कोई पाप नहीं है वरं भगवान्‌की उपासना ही परम धर्म है। स्त्रीको पतिकी उपासना भी भगवान्‌की उपासनाके रूपमें ही करनी चाहिये—भोग प्राप्त करानेवाले किसी मनुष्य-विशेषके रूपमें नहीं। यही नारी-धर्म है। इस नारी-धर्ममें श्रद्धा-विश्वास तथा सत्यताके साथ लगी हुई स्त्रीको इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

वेश्या-सेवन, मांस-भक्षण पाप ही है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका निम्नलिखित उत्तर है।

(१) आपने लिखा कि 'वेश्याकी जीविका परपुरुषका सेवन है, उसका यह सहज पेशा है। तथा जो आदमी वेश्याके पास जाता है, वह उसे पैसा देता है। फिर यह पाप क्यों माना जाता है?' आपका यह प्रश्न बड़ा विचित्र है। फिर तो चोर-डकैत कहेंगे कि चोरी-डकैती हमारी जीविका है, इसमें पाप कैसा, और पैसा देकर किसीकी हत्या करानेवाला कहेगा कि मैंने पैसे दिये हैं इससे वह पाप क्यों? वास्तवमें वेश्याका परपुरुष-सेवन तथा किसी पुरुषका वेश्या-सेवन ही तो पाप है। जो लोग ऐसा काम करते हैं, वे तो पाप करते ही हैं, और जो इसमें सहायता करते हैं तथा इसका समर्थन करते हैं वे भी पाप ही करते हैं।

(२) आप लिखते हैं कि 'प्राचीन कालमें अच्छे-अच्छे लोग मांस खाते थे, इसलिये अब मांस खानेमें क्यों आपत्ति होनी चाहिये?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह कहा भी नहीं जा सकता कि प्राचीन कालमें अच्छे लोग मांस खाते थे; क्योंकि अच्छे लोगोंने तो मांसकी जगह-जगह बड़ी निन्दा की है। फिर यदि प्राचीन कालमें कोई मांस खाता भी हो तो उसकी देखा-देखी अब भी मांस खाना चाहिये, यह सोचना बुद्धिसङ्गत बात नहीं है। मांस खाना पाप है, क्योंकि मांस बिना जीवहिंसाके मिलता नहीं, फिर इस पापको करनेवाला चाहे प्राचीन कालका मनुष्य हो, चाहे अर्वाचीनका, वह पाप ही करता है। मांस खाना राक्षसोंका काम है। इसलिये मांसका सर्वथा त्याग ही करना चाहिये। प्राचीन लोगोंने बड़े-बड़े त्याग किये थे, उनका अनुकरण करनेकी बात तो नहीं की जाती, पर किसीने मांस खाया था, व्यभिचार किया था तो उसकी नकल करनी चाहिये। यह वास्तवमें अपने पाप-वासनासे पूर्ण चित्तका धोखा है, इस धोखेसे जरूर बचना चाहिये।

(३) आप लिखते हैं कि 'मैं भजन करना चाहता हूँ पर भजन नहीं बनता।' सो आप भजन करना चाहते हैं—यह तो बहुत ही अच्छी बात है। भगवान्‌की बड़ी कृपा है आपपर और कोई महान् पुण्य आपका सहायक है चाहे आपका हो या आपके पूर्व-पुरुषोंका—जिसके कारण आपके मनमें भजनकी चाह होती है, चाह होती है तो कुछ-न-कुछ भजन भी होता ही होगा। यह चाह भी तो भजन ही है; परंतु भजन नहीं बनता—इसका कारण तो प्रत्यक्ष है। आप वेश्या-सेवनको बुरा नहीं मानते और मांस खानेका

भी समर्थन करते हैं और आपके लिखनेके अनुसार ये दोनों दोष आपमें हैं भी ! मनुष्यमें दोष हो सकते हैं, पर यदि वह उन्हें दोष मानता है तो उनसे छूटनेकी चेष्टा भी करता है पर आप तो इन्हें दोष ही नहीं मानते ! तब, भगवान्का भजन कैसे बनेगा ? भजन तो वेश्या और मांसका बन रहा है। इसीसे आप, 'वेश्याकी जीविका है और प्राचीन कालमें अच्छे लोग मांस खाते थे'—यह तर्क रखकर मुझसे भी इनका समर्थन करवाना चाहते हैं ! भाई साहब ! इस पापके पथका परित्याग कर दीजिये। 'वेश्या और मांसका कभी सेवन नहीं करेंगे' यह दृढ़ प्रतिज्ञा कीजिये और प्रतिज्ञा कीजिये इन्हें भलीभाँति पाप समझकर ! केवल मेरे कहनेसे ही नहीं। मेरे कहनेसे भी त्याग कर देंगे तो भी आपको लाभ तो होगा ही, और मैं भी आपका उपकार मानूँगा, पर आपके द्वारा इनका यथार्थ त्याग तो तभी होगा, जब आपकी बुद्धि इन्हें पाप मान लेगी। शेष भगवत्कृपा।

कुमति

(रचयिता—श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)

तेरी मति बौराई, बाबा ! तेरी मति बौराई !

कौड़ीको तो खूब सँभाला,
फेंक दिया हरि-हीरा।
घरकी नारी सती न भाती,
पर-रमणीसे क्रीड़ा ॥
लोभ-दृष्टिसे देख रहा तू
निशिदिन वस्तु पराई।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

रामचरणका अमृत छोड़कर
विषय-वारि-विष पीता।
नर-तन पाकर क्षुद्र श्वान-सा
किस प्रकार तू जीता ?
प्रेम-दूधमें तू पड़ता है
बनकर कलह-खटाई।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

परनिन्दासे खिल उठता तू,
जैसे फूल कमलका।
पर-दोषोंको सदा ढूँढ़ता,
जैसे कीड़ा मलका ॥
तेरे हाथोंसे न किसीकी
होती कभी भलाई।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

देवालयमें किया दण्डवत,
चन्दन-तिलक लगाया।
किन्तु, उसी प्रभुके भक्तोंका
तूने रुधिर बहाया ॥
माको भी अपमानित करते
तुझको लाज न आयी।
तेरी मति बौराई, बाबा !
तेरी मति बौराई !

सती द्रौपदी

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्कसे आगे]

द्रौपदीने कहा—'धर्मराज! आप धर्मके ज्ञाता हैं, आप मूर्तिमान् धर्म हैं, आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। मैं दुःखकी मारी हुई हूँ। अपने देवताके समान पतियोंको ऐसी अवस्थामें देखकर मैं विह्वल हो गयी हूँ। ईश्वर और धर्मपर आन्तरिक श्रद्धा होनेपर भी मेरे मुँहसे ऐसे शब्द निकल गये हैं। मेरा उद्देश्य ईश्वर या धर्मकी निन्दा करना नहीं है। अभी मेरा हृदय शान्त नहीं हुआ है। यदि अपने मनकी सभी बातें मैं बाहर न निकाल दूँ, तो मेरा कलेजा फट जायगा। सुनिये, मेरी बात और भी ध्यानसे सुनिये।

'संसारमें अबतक जितने बुद्धिमान् हुए हैं, सबने कर्म किया है। पशु भी माताका दूध पीते हैं, छाँहमें जाकर बैठते हैं, कर्मके द्वारा ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। प्रकृतिमें सर्वत्र क्रिया हो रही है। कर्मके रहस्यको जाननेवाला दुर्लभ है, यदि रक्षा या बढ़ानेकी क्रिया न की जाय तो सुमेरुके बराबर सम्पत्ति भी नष्ट हो जायगी। कर्मके बिना कोई रह ही नहीं सकता। भाग्यवादी और जड़वादी दोनों ही निन्दनीय हैं, जो परिश्रम और चेष्टा छोड़कर भाग्यके भरोसे बैठा रहता है, वह पानीमें पड़े हुए कच्चे घड़ेकी तरह नष्ट हो जाता है। सब कुछ कर्मका ही फल है। ये बड़े-बड़े नगर, भवन, उनका उपयोग और उनके सम्बन्धमें नये-नये आविष्कार कर्मसे ही होते हैं। तिलोंमें तेल, गायमें दूध और लकड़ीमें आग है, परंतु बिना निकाले उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकता। भाग्य भी पूर्वसञ्चित कर्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कर्म कभी निष्फल नहीं होता। अकर्मण्यता दरिद्रताकी जननी है। बड़े-बड़े ऋषियोंने इस बातको स्पष्ट घोषित कर दिया है। हमारी यह दुर्दशा पौरुषका आश्रय न लेनेके कारण है। कर्मकी सफलतामें सन्देह करके यदि आप लोग निश्चेष्ट बैठे रहें तो फिर हमें कभी राज्य नहीं मिल सकता। आशावान् दृढ़ और तत्पर पुरुष ही सारे संसारको अपने वशमें कर सकता है। अपनी शक्तिके अनुसार समझ-बूझकर उद्योग करना ही उत्तम है। पराक्रमका आश्रय लेकर साम, दान, दण्ड, भेदका यथावसर प्रयोग करना चाहिये। मैं असमर्थ हूँ, ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये। यह तो आत्माका अपमान है। यदि सफलतामें विलम्ब हो तो अपने उद्योगमें ही त्रुटि देखनी चाहिये। मैंने अपने पिताकी गोदमें बैठकर विद्वान् और सदाचारी ब्राह्मणके मुँहसे बृहस्पतिकी पूरी नीति सुनी है। मैं आपसे सत्य कहती हूँ, अब हमलोगोंका इसीमें कल्याण है कि पौरुषके द्वारा शत्रुओंको परास्त करके पुनः अपनी सम्पत्ति प्राप्त की जाय।'

द्रौपदीकी बात सुनकर भीमसेनकी साँस लंबी चलने लगी। वे क्रोधित होकर धर्मराजको उत्तेजित करने लगे कि अभी कौरवोंपर चढ़ाई कर दी जाय और राज्यका उद्धार कर लिया जाय; परंतु युधिष्ठिरने उन्हें बहुत समझाया और कहा कि 'जब हम बारह वर्षतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, तब किसी भी कारणसे वह प्रतिज्ञा तोड़ी नहीं जा सकती।' इस प्रकार लोगोंमें बातचीत हो ही रही थी कि भगवान् व्यासदेव वहाँ पधार गये। स्वागत-सत्कारके बाद उन्होंने कहा कि 'मैं यह विद्या बतलाता हूँ, इसके द्वारा अर्जुन भगवान् शंकर और इन्द्रको प्रसन्न करके सिद्धि प्राप्त करे। तब तुमलोग कौरवों-को आसानीसे जीत सकोगे।' युधिष्ठिरने उनसे वह विद्या प्राप्त कर ली और फिर अर्जुनको उसका उपदेश किया। भगवान् वेदव्यासकी सम्मतिसे अर्जुनने वह अनुष्ठान किया। अनुष्ठान करनेके लिये यात्रा करते समय द्रौपदीने भगवान्से प्रार्थना की, मङ्गल-कामना की और अर्जुनको सिद्धि-प्राप्तिके लिये उत्साहित किया। अर्जुन मन्त्रसिद्धिके लिये चले गये।

अर्जुनके वियोगसे पाण्डवोंको बड़ी व्यथा हुई। द्रौपदीके हृदयकी अवस्था तो अवर्णनीय हो गयी थी। ब्राह्मणोंकी सम्मतिसे युधिष्ठिरने तीर्थयात्राका निश्चय किया, वे अनेकों तीर्थोंमें घूमते रहे। द्रौपदी और अनेकों ब्राह्मण उनके साथ-साथ थे। द्रौपदी अपने हाथोंसे परसकर सबको खिलाती, सबके भोजन कर लेनेपर स्वयं भोजन करती। यात्रामें जिन-जिन महात्माओंसे उनकी भेंट हुई, उन्होंने जो-जो कथाएँ सुनीं और वे जिन-जिन तीर्थोंमें गये, उनका विस्तृत वर्णन महाभारतके वनपर्वमें पढ़ना चाहिये। द्रौपदी उन लोगोंके साथ पैदल ही चलती, उसे कभी इस प्रकार चलनेका अभ्यास नहीं था। कहीं बड़े जोरकी आँधी चलती, कभी कड़ाकेकी गरमी पड़ती; मूसलाधार वर्षा होती और शरीरको

ठिठुरानेवाला जाड़ा पड़ता । द्रौपदी मौन-भावसे सब सहन करती और केवल सहन ही नहीं करती, अपनेको ऐसी अवस्थामें भी पतियोंकी सेवा करते देखकर अपने जीवनको सफल मानती ।

एक बार जब ये लोग अर्जुनसे मिलनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर गन्धमादन पर्वतकी ओर जा रहे थे, तब रास्तेमें बड़े उत्पातका सामना करना पड़ा । आँधी, पानी, पत्थरोंकी वर्षा, पेड़ोंका टूटना आदि अनेकों प्रकारके उपद्रव होने लगे । अन्धकारके कारण साथके कई लोग बिछुड़ गये, परंतु भीमसेन धनुष-बाण लिये हुए द्रौपदीके साथ ही रहे । उत्पात बंद होनेपर जब सब लोग ऊपर चढ़ने लगे, तब द्रौपदी बिल्कुल थक गयी । घबराहटके मारे उसका शरीर काँपने लगा, वह अपने शरीरको न सम्हाल सकनेके कारण बैठ गयी । द्रौपदीसे बैठा भी रहा नहीं गया, वह जमीनपर लोट गयी । यह दशा देखकर नकुलसे नहीं रहा गया, वे दौड़कर सबसे पहले द्रौपदीके पास पहुँचे और उसे उठाकर उन्होंने धर्मराजसे कहा—'महाराज ! पाञ्चालराजकी कुमारी कमलनयनी द्रौपदी, जिसे आजतक कोई कष्ट नहीं सहना पड़ा, इस समय थक जानेके कारण पृथिवीपर गिर पड़ी है । इसे आप धीरज दीजिये ।'

युधिष्ठिर बहुत दुखी हुए । वे सहदेवके साथ दौड़कर उसके पास गये, उसके उतरे हुए चेहरेको देखकर बहुत ही उदास हुए । उसका सिर अपनी गोदमें रखकर वे विलाप करने लगे । वे कहने लगे—'जो द्रौपदी सुसज्जित भवनमें सुकोमल शय्यापर शयन करती थी, वह इस समय पृथिवीपर पड़ी हुई है । मेरे कारण इस अनिन्द्य सुन्दरीका मुखमण्डल मलिन हो गया है, चरण शिथिल पड़ गये हैं । मैंने जुआ खेलकर बड़ा बुरा काम किया । क्या महाराज द्रुपदने यही सोचकर हमें अपनी प्यारी कन्या दी थी ? क्या उनके मनमें कभी यह कल्पना रही होगी कि मेरी कन्या इस प्रकार वन-वनमें घूमेगी ? परंतु दुःखकी बात है कि आज वही हो रहा है ।' युधिष्ठिरका विलाप सुनकर धौम्य आदि ब्राह्मण उनके पास चले आये और उन्होंने मन्त्र पढ़कर आशीर्वाद देकर ढाढस बँधाया । धीरे-धीरे द्रौपदी होशमें आयी, स्वस्थ हुई । अब प्रश्न यह हुआ कि आगे कैसे चला जाय ? भीमसेनने कहा कि 'मैं अकेला ही आपको, द्रौपदीको और नकुल-सहदेवको लादकर ले चलूँगा । यदि आप कहें तो मेरा पुत्र घटोत्कच बड़ा बलवान् है, उसे बुला दूँ । आप आज्ञा देंगे तो वह सबको लादकर ले चलेगा ।' युधिष्ठिरने आज्ञा दे दी । भीमसेनके स्मरण करते ही घटोत्कच वहाँ आ गया ।

घटोत्कचके आज्ञा माँगनेपर भीमने कहा—'बेटा ! तुम्हारी माता द्रौपदी थक गयी है, चल नहीं सकती । तुम बलवान् हो और साथ ही तुममें इच्छानुसार चलनेकी शक्ति है, तुम उसे लादकर ले चलो । आकाशमार्गसे इस प्रकार धीमी चालसे चलो कि हमारा साथ न छूटे और इसे कष्ट भी न हो ।' घटोत्कचने कहा—'पिताजी ! मैं अकेला ही द्रौपदी, धौम्य, धर्मराज, नकुल और सहदेवको ले चल सकता हूँ । इस समय तो मेरे पास और भी बहुत-से आकाशचारी वीर राक्षस हैं, वे ब्राह्मणोंसहित आप सबको ले चलेंगे ।' भीमने स्वीकार कर लिया । घटोत्कच द्रौपदीको और अन्यान्य राक्षस पाण्डवोंको अपने कंधोंपर लेकर आकाशमार्गसे चले । दूसरे राक्षसोंने ब्राह्मणोंको अपने कंधोंपर बैठा लिया । महातपस्वी लोमश अपने तपोबलके प्रभावसे सूर्यके समान सिद्धमार्गसे चलने लगे । रास्तेमें अनेकों वन-उपवन, पर्वत-शिखर, नदी-नाले आदि देखते हुए वे बदरिकाश्रम पहुँचे । पहाड़ोंमें अनेक विचित्र धातुएँ थीं । अनेकों रत्नोंकी खानें थीं । अनेकों जातिके पशु-पक्षी घूम रहे थे । नदियाँ बह रही थीं, वृक्ष फूले-फले हुए थे ।

नर-नारायणके दर्शन करके उन लोगोंको बड़ा आनन्द मिला । वे वहाँ कई दिनोंतक सुखपूर्वक निवास करते रहे । एक दिन अचानक पूर्वोत्तरकोणकी हवाने वहाँ एक सूर्यके समान चमकता हुआ सहस्रदल कमल पहुँचा दिया । उस दिव्य गन्धयुक्त दर्शनीय पुष्पको देखकर और लेकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न हुई । उसने भीमसेनको दिखाकर कहा कि 'यह पुष्प कितना सुगन्धित, कितना रमणीय, कितना बढ़िया है । इसने मेरा मन चुरा लिया है । मैं यह पुष्प धर्मराजको भेंट करूँगी । क्या तुम ऐसे और भी पुष्प ला सकते हो ? तुम अवश्य ला सकते हो । जाओ न, ले आओ । मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ।' द्रौपदी वह फूल लेकर धर्मराजके पास चली गयी । भीमसेन मत्त मातङ्गकी भाँति बड़ी मस्तीसे अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर कमलपुष्पके लिये रवाना हुए । रास्तेमें हनुमान्जीसे भेंट हुई । उन्होंने युद्धमें सहायता करनेका वचन दिया । बहुत-से दैत्य-दानवोंका संहार करके भीमसेन उस सौगन्धिक वनमें पहुँचे । जब द्रौपदीसे युधिष्ठिरको यह समाचार मालूम हुआ, तब वे भी सबके साथ घटोत्कच आदिकी सहायतासे

वहाँ जा पहुँचे। उस तालावमें खूव जल-विहार किया और कुछ दिनोंतक वहीं रहे। इसके वाद पर्वतके अनेक स्थानोंपर विचरते रहे। जव अर्जुन स्वर्गसे लौट आये, तव उनसे मिलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण भी आये।

कुशल-समाचारके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा—'देवी! अव तुम्हारे सौभाग्यके दिन आनेमें अधिक विलम्व नहीं है। अर्जुन शस्त्रविद्या प्राप्त करके लौट आये हैं। तुम्हारे पुत्र द्वारकामें वड़ी लगनके साथ धनुर्वेदका अभ्यास कर रहे हैं। वे सदा सत्सङ्गमें रहते हैं और सदाचारमें वड़े निपुण हो गये हैं। उन्हें तुम्हारे पिता और भाइयोंने कई वार वुलाया, राज्य देनेके लिये प्रलोभित भी किया; परंतु उन्हें अपने नाना या मामाके पास रहना अच्छा नहीं लगता। वे द्वारकाको छोड़कर स्वर्गमें भी नहीं जाना चाहते। युद्धविद्यासे उनका विशेष प्रेम है। जैसे आर्या कुन्ती या तुम उन्हें सच्चरित्रता सिखातीं, उनका लालन-पालन करतीं, वैसे ही द्वारकामें वहिन सुभद्रा उनकी देख-रेख रखती हैं। प्रद्युम्न जैसे अपने पुत्रोंको शिक्षा देते हैं, वैसे ही अभिमन्यु और तुम्हारे पुत्रोंको भी देते हैं। तुम प्रसन्न रहो, कोई चिन्ता मत करो।' भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको आश्वासन दिया और वहुत प्रिय, मधुर और हितकारी वचनोंसे उन्हें समझाया। सव लोग वहीं रहने लगे, मार्कण्डेय ऋषिने वहुत दिनतक वहाँ रहकर नाना प्रकारके इतिहास सुनाये। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेश दिये।

इस वार भगवान् श्रीकृष्णके साथ सत्यभामा भी आयी हुई थीं। ऋषि, महर्षि, श्रीकृष्ण और पाण्डव एक आश्रममें वैठे वातचीत कर रहे थे, और दूसरे स्थानपर सत्यभामा और द्रौपदी वैठकर आपसमें कुरुवंश और यदुवंशके सम्वन्धकी विचित्र वातें कर रही थीं। उसी सिलसिलेमें सत्यभामाने पूछा—'सखी! तुम अपने वीर पतियोंको किस व्यवहारसे संतुष्ट रखती हो? वे तुमपर कभी क्रोध नहीं करते, तुम्हारा मुँह ताका करते हैं। उनमें कभी ईर्ष्याका भाव नहीं देखा जाता। वे सव-के-सव तुम्हारे वशमें रहते हैं। क्या इसके लिये तुमने कोई व्रत, तप या जप किया है? किसी मन्त्र, दवा, अंजन या जड़ी-वूटी आदिका सहारा लिया है? तुम मुझे भी कोई ऐसा ही उपाय वतलाओ कि जिससे मैं अपने पतिको वशमें कर सकूँ।' भाग्यशालिनी द्रौपदीने कहा—'वहिन! तुम यह क्या पूछ रही हो? क्या कभी पतिव्रता स्त्री अपने पतिको वशमें करना चाहती है? पतिव्रता तो सर्वदा अपने पतिके वशमें रहती है और रहना चाहती है। यह तो स्त्रियोंके ओछेपनका सूचक है कि वे अपने पतिको वशमें करना चाहें। तुम वुद्धिमती हो, श्रीकृष्णकी प्यारी हो, तुम्हारे मुँहसे ऐसा प्रश्न शोभा नहीं देता। देखो वहिन! तुम्हें मैं एक वड़े रहस्यकी वात वताती हूँ। जव पतिको यह मालूम होता है कि मेरी स्त्री मन्त्र-यन्त्रके द्वारा मुझे वशमें करना चाहती है, तव वह उससे घवराने लगता है और जैसे लोग घरमें साँपके रहनेसे चिन्तित रहते हैं, वैसे ही चिन्तित हो जाता है। जव पति चिन्तित हो गया, तव घरवालोंको शान्ति और सुख कैसे मिल सकता है? इसलिये मन्त्र-यन्त्रसे पतिको वशमें करनेकी चेष्टा वहुत ही वुरी है। उससे पति तो वशमें होता नहीं, वुराई पैदा हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पतिको वशमें करनेके लिये भूलसे ऐसी दवा खिला दी जाती है, जिससे पति सर्वदाके लिये वीमार हो जाता है या मर जाता है। ऐसी स्त्रियोंसे धूर्त शत्रु भी लाभ उठाते हैं। खानेके लिये या शरीरमें लगानेके लिये ऐसे चूर्ण दे देते हैं, जिससे पति पीड़ित, कोढ़ी, असमयमें ही वृद्ध, नपुंसक, पागल, अन्धे या वहरेतक हो जाते हैं। इसलिये पतिको वशमें करनेके लिये ऐसी चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिये।

'वहिन! पतिको प्रसन्न रखना और उनके वशमें हो जाना ही उन्हें अपने वशमें करनेका सच्चा उपाय है। मैं अहङ्कार, कामवासना, क्रोध आदि दुष्ट भावोंसे वचकर पवित्रताके साथ पाण्डवोंकी और उनकी अन्य स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ। मेरे मनमें कभी ईर्ष्या नहीं होती, मनको सदा उनके अनुकूल रखती हूँ और वाणीसे कभी अप्रिय वचन नहीं वोलती हूँ। शरीरसे सेवा करती हूँ, उनका मन रखती हूँ और कभी उनपर सन्देह नहीं करती। वुरी जगहपर नहीं वैठती, खराव चाल नहीं चलती, दुराचारिणी स्त्रियोंसे कभी वात नहीं करती। कभी ऐसी दृष्टिसे नहीं देखती जिससे निन्दित विचार प्रकट होते हों। मेरे पति सर्वगुणसम्पन्न हैं। मैं किसीके रूप, गुण, अवस्था, सज-धज आदिसे आकर्षित नहीं होती। उनके स्नानके वाद स्नान करती हूँ, उनके भोजनके वाद भोजन करती हूँ, उनके सो जानेपर सोती हूँ। उनकी तो वात ही क्या, जवतक घरके दूसरे लोग या सेवक स्नान, भोजन या शयन

नहीं करते, तबतक मैं भी नहीं करती । मेरे पति कहीं बाहरसे आते हैं, तब मैं आगेसे उठकर उनका स्वागत करती हूँ । भीतर ले आती हूँ, आसनपर बैठाती हूँ और अपने हाथों पानी लाकर उनके हाथ-पैर, मुँह धुलाती हूँ । घर और घरकी सब सामग्रियोंको साफ-सुथरा रखती हूँ, स्वच्छता और पवित्रताके साथ भोजन बनाकर ठीक समयपर खिलाती हूँ । भण्डारेमें ठीक-ठिकानेसे अन्न रखती हूँ । उनकी रुचिके अनुसार ही काम करती हूँ । आपसके विनोदके अतिरिक्त हँसती नहीं हूँ । द्वारपर खड़ी नहीं रहती । घरसे मिले हुए बागमें भी बहुत देरतक नहीं ठहरती । न बहुत हँसती हूँ, न खीझती हूँ। झमककर किसीसे कड़वी बात नहीं कहती । अवसर आनेपर बचा जाती हूँ । पतिसे अलग रहना मुझे अच्छा नहीं लगता । पतिके परदेश जानेपर मैं फूल, माला, सुगन्ध आदिसे अपनेको सजाती नहीं । मेरे पति जिस वस्तुको पसंद नहीं करते, उसे मैं भी पसंद नहीं करती । उनकी बात मानती हूँ, उनका जैसे हित हो, वे जैसे प्रसन्न हों, वही मेरा व्रत है । जब मैं उनके पास जाती हूँ, तब पवित्र होकर सुन्दर वस्त्र, आभूषण, सुगन्धित वस्तु धारण करके ही जाती हूँ ।

'मेरी सासने अपने कुटुम्बियोंके साथ जैसा व्यवहार करना मुझे सिखाया है, मैं वैसा ही करती हूँ । भिक्षा देना, देव-पूजा करना, श्राद्ध और पर्वके दिन अच्छे-अच्छे भोजन बनाना, माननीय पुरुषोंकी पूजा और सत्कार करना तथा दूसरे जो मेरे कर्तव्य मुझे मालूम हैं, उनका दिन-रात सावधानीसे पालन किया करती हूँ । विनयके भावको कभी नहीं छोड़ती । पति ही स्त्रियोंका देवता और एकमात्र गति है, भला, कौन पतिव्रता अपने पतिका अप्रिय करना चाहेगी ? मैं उन्हें हीन-दृष्टिसे नहीं देखती । उनसे अच्छा भोजन नहीं करती । उनसे बढ़-चढ़कर कपड़े और गहने नहीं पहनती । अपनी सासकी निन्दा कभी नहीं करती, उनकी सेवा करती हूँ । जो काम करती हूँ, बड़ी लगनसे करती हूँ । जिसको वशमें करना हो, बिना शर्तके उसके वशमें हो जाना ही वशमें करनेका सच्चा उपाय है । इतना वशमें हो जाना चाहिये कि वशमें करनेकी याद ही न रहे ।

'बहिन ! आर्या कुन्तीको मैं अपने हाथसे परसकर भोजन कराती हूँ । उनकी सब तरहकी सेवा स्वयं करती हूँ, उनसे बढ़कर न भोजन करती और न कपड़े या गहने पहनती । कभी ऐसी बात नहीं कहती, जो उन्हें बुरी लगे । पहले महाराज युधिष्ठिरके यहाँ सोनेके थालोंमें आठ हजार ब्राह्मण प्रतिदिन भोजन करते थे । अठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र दिया जाता था । दस हजार संन्यासियोंको भोजन दिया जाता था । मैं बलिवैश्वदेवके बाद इन सबको भोजन कराती थी और यथायोग्य पूजा करती थी । घरमें लाखों दासियाँ थीं । मुझे उनके नाम, रूप, खाने-पहननेका हाल सब कुछ मालूम था । कब, किसने, क्या काम किया, किसका क्या काम बँधा हुआ है, यह सब मैं जानती थी । लाखों हाथी-घोड़े थे; उनकी गिनती, उनका प्रबन्ध मैं ही करती थी । सारे महलका, सब नौकरों-का, समस्त परिवारका, गाय, भेड़ आदि पशुओंका, उनके चरानेवाले रखवालोंका क्या प्रबन्ध हुआ है, यह मैं देखती रहती थी । राज्यकी आमदनी और खर्चका कुल हिसाब मैं जानती थी और उसकी जाँच-पड़ताल भी करती थी । मैं दिन-रात अधिक-से-अधिक परिश्रम करके इतने कामोंका बोझ सम्हाले रखती थी कि जिनका भार साधारण पुरुष नहीं सम्हाल सकते । पाण्डवोंका मुझपर इतना विश्वास था कि वे बस, दो ही काम करते थे--प्रजाकी रक्षा और दान । उनके खजानेमें अथाह धन था । मैं दिनको दिन नहीं समझती थी, रातको रात नहीं समझती थी । भूख और प्यासकी परवा नहीं करती थी । मुझे अपने पतियोंकी सेवा करनेमें इतना आनन्द आता कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकती । उद्वेग तो कभी मुझे हुआ ही नहीं । मैं हमेशा पतियोंके उठनेके पहले उठ जाती और सोनेके बाद सोती । मैंने पतियोंके साथ ऐसा ही व्यवहार किया है । मेरे मनमें उन्हें वशमें करनेकी इच्छा कभी नहीं हुई । मैं उनके वशमें रहना चाहती हूँ । वे मुझसे प्रसन्न हैं, यह मेरे लिये बड़े सौभाग्य-की बात है । इसीमें मैं अपने जीवनकी सार्थकता समझती हूँ ।'

सत्यभामाने कहा--'बहिन ! मेरे मनमें मन्त्र-यन्त्र करनेकी कोई बात नहीं थी । मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण मुझसे यों ही बड़ा प्रेम करते हैं । तुम इसके लिये दुःख मत करो । मैं तुम्हारी सखी हूँ, इसलिये विनोदके रूपमें ही मैंने वह बात कही है । मैं तुम्हारे दुःखका कारण बनी, इसके लिये मुझे क्षमा करो ।' द्रौपदीने कहा--'बहिन ! सुनो, मैं तुम्हें पतिको वशमें करनेका सच्चा उपाय बताती हूँ । यह उपाय सर्वथा निर्दोष है । यदि तुम इसका आचरण कर

सकोगी तो अपने पतिको सौतोंसे छीन सकोगी। स्त्रीके लिये पतिके समान कोई देवता नहीं है। पतिकी प्रसन्नतासे स्त्रीके सब मनोरथ पूरे होते हैं। पतिके क्रोधसे उसकी सब कामनाएँ निष्फल हो जाती हैं। पतिके प्रसादसे ही स्त्रियोंको लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक आनन्द प्राप्त होता है। श्रीकृष्णकी सेवा तुम इतने निष्कपट भावसे क्लेश सहकर करो कि वे केवल तुम्हींको चाहने लगें। वे जान जायँ कि तुम उनसे सच्चे हृदयसे प्रेम करती हो। जब वे दरवाजेपर आवें, तब तुम उनका स्वागत करनेके लिये आँगनमें खड़ी हो जाया करो। भीतर आनेपर उन्हें सुन्दर आसन बिछाकर बैठाओ और अपने हाथसे पैर धोओ। वे दासीसे कोई काम करनेको कहें तो तुम स्वयं कर दो। यदि श्रीकृष्ण तुमसे कोई बात कहें और वह छिपानेके योग्य न हो, तो भी तुम उसे दूसरेसे मत कहो; क्योंकि जब वह बात दूसरेके द्वारा उनके कानमें पहुँचेगी, तब वे सोच सकते हैं कि मेरी स्त्री किसी बातको गुप्त नहीं रख सकती। जो तुम्हारे पतिके मित्र हों, हितचिन्तक हों, उन्हें अच्छी-अच्छी चीजें खिलाओ, उनका सत्कार करो। उनके विरोधियोंको अपने पास मत फटकने दो। पर-पुरुषके आगे तुम्हारी मस्ती न प्रकट हो। पुरुषोंके आगे न बहुत बोलो और न तो अपने हृदयके भाव प्रकट होने दो, लज्जा और संकोचके साथ रहो। जो तुम्हारे पुत्र लगते हैं, प्रद्युम्न और साम्ब आदि उनके साथ भी एकान्तमें मत बैठो। क्रोध करनेवाली, शराब पीनेवाली, अधिक खानेवाली, कर्कशा, चोर, दुष्टा और चञ्चल स्त्रियोंका सङ्ग कभी मत करो। अच्छे वंशकी, पापसे डरनेवाली, पतिव्रता स्त्रियोंसे मित्रता करो; उनके पास बैठो-उठो। अपने पति जैसे प्रसन्न हों वैसी चेष्टा करो। स्त्रियोंके लिये यही सच्चा उपदेश है। जो स्त्री इसका अनुकरण करती है, वह सब प्रकारके सुख-सौभाग्यकी अधिकारिणी होती है।'

इसी प्रकार समय-समयपर दोनोंमें बातें होती रहीं। भगवान् श्रीकृष्णने बहुत दिनोंतक रहनेके बाद वहाँसे प्रस्थान करनेका विचार किया। सत्यभामाने द्रौपदीको बहुत कुछ आश्वासन दिया और बतलाया कि अब वे दिन दूर नहीं हैं कि जब तुम्हारे सारे शत्रु मारे जायँगे। उसके पुत्रोंका कुशल-समाचार भी बताया और कहा कि वे शीघ्र ही सारे पृथिवीके वीरोंमें पूजनीय होंगे। सबको समझा-बुझाकर सत्यभामा और श्रीकृष्ण वहाँसे रवाना हुए।

[९]

सज्जन पुरुषोंमें यह स्वाभाविक गुण होता है कि यदि दूसरा कोई उनका अनिष्ट करना चाहे तो वे यथाशक्ति अनिष्टसे अपनेको बचानेकी चेष्टा करते हैं, परंतु अनिष्ट करनेवालेका अनिष्ट नहीं करना चाहते। वे स्वभावसे ही सबका हित चाहते हैं और हित चाहनेमें यह भेदभाव नहीं रखते कि कौन मेरा शत्रु और कौन मेरा मित्र है? वे दुखीको देखकर दयार्द्र हो जाते हैं, अनिष्ट करनेवालेको देखकर उसके अंदर सद्बुद्धिका सञ्चार करनेके लिये तड़पने लगते हैं और पुण्यात्माको देखकर उसके पुण्यकी अभिवृद्धिके लिये सचेष्ट हो जाते हैं। उनके जीवनका यही नियम है। वे जब घोर विपत्तिमें पड़ जाते हैं, उनका कोई सहारा नहीं रहता, तब वे भगवान् श्रीकृष्णको पुकारते हैं और श्रीकृष्ण दौड़कर उनकी रक्षा करते हैं। इस विषयमें द्रौपदीका बड़ा अनुभव था। उसने अपने जीवनमें अनिवार्य विपत्ति उपस्थित होनेपर भगवान् श्रीकृष्णको समय-समयपर पुकारा था और श्रीकृष्ण सब काम छोड़कर उसकी रक्षाके लिये दौड़े आये थे।

पाण्डव वनवासी हो गये। यद्यपि वे अपनी कार्य-सिद्धिमें लगे हुए थे। किसीके आश्रित नहीं थे, बहुतोंके आश्रय थे। उनमें दैन्यका सञ्चार नहीं हुआ था, तथापि कौरव यही समझते थे कि पाण्डव दीन हो गये, दरिद्र हो गये, असहाय हो गये। हमारे पास महान् ऐश्वर्य है, अब वे हमारा मुकाबला क्या कर सकते हैं? इसी समझसे उनके मनमें यह दुर्बुद्धि आयी कि चलो हमलोग वनमें चलें और अपने ऐश्वर्यका प्रदर्शन करके पाण्डवोंको कुढ़ावें, उनका अनादर करें। वे सज-धजकर हस्तिनापुरसे वनके लिये रवाना हुए।

गन्धर्वराज चित्रसेनसे अर्जुनकी बड़ी मित्रता थी। जब उन्हें कौरवोंका यह दुर्विचार मालूम हुआ कि ये मेरे मित्र अर्जुन और उनके भाइयोंको चिढ़ानेके लिये जा रहे हैं, तब उन्होंने ऐसा निमित्त उपस्थित कर दिया कि गन्धर्वोंसे कौरवोंका युद्ध हो गया। उस युद्धमें कौरवोंकी बहुत-सी सेना मारी गयी, बहुत-से वीर बेहोश हो गये। औरोंकी तो क्या कथा, वीरवर कर्ण भी अपना रथ नष्ट हो जानेपर विकर्णके रथपर सवार होकर भग गये। दुर्योधन पकड़ लिया गया और गन्धर्व उसे लेकर अपने लोकको चले गये। सेनाके जो कुछ सामान्य सेवक अवशेष रह गये थे, उन्होंने जाकर पाण्डवोंसे प्रार्थना की कि राजा दुर्योधनको गन्धर्व पकड़े

लिये जा रहे हैं, आपलोग उनकी रक्षा करें। युधिष्ठिरने सोच-विचारकर भीम, अर्जुन आदि अपने छोटे भाइयोंको आज्ञा दी कि 'देखो भैया, यों तो जब हमारा कौरवोंसे विरोध हो, तब हम पाँच भाई और कौरव सौ भाई हैं; परंतु जब कौरवोंका और किसीसे विरोध होता है, तब हम सब मिलकर एक सौ पाँच भाई हैं। हम पाँचोंके रहते कोई कौरवोंका अपमान करे, यह असह्य है। तुमलोग अभी जाओ और सुलहसे अथवा युद्धसे उनको छुड़ा लाओ।' पाण्डवोंने अपने बड़े भाई युधिष्ठिरकी आज्ञा शिरोधार्य की।

पहले गन्धर्वोंसे अर्जुनका घमासान युद्ध हुआ। जब यह बात गन्धर्वराज चित्रसेनको मालूम हुई, तब वह आया और अर्जुनसे उसने भी युद्ध किया। जब चित्रसेन बहुत पीड़ित हो गये, तब उन्होंने अपनेको अर्जुनके सामने प्रकट किया और दोनोंमें कुशल-मङ्गल हुआ। चित्रसेनने अर्जुनसे कहा—'भाई अर्जुन! दुर्योधन और कर्णका दुष्ट विचार देवराज इन्द्रको स्वर्गमें ही मालूम हो गया था। वे सब अपना ऐश्वर्य दिखाकर तुम्हें कुढ़ानेके लिये, तुम्हारी दुर्दशाका स्मरण दिलानेके लिये और यशस्विनी द्रौपदीकी हँसी करनेके लिये यहाँ आये थे। देवराज इन्द्रकी आज्ञाके अनुसार ही हम लोगोंने दुर्योधनको पकड़ा था। अब तुम जैसा कहो, हम वैसा करनेको तैयार हैं।' अर्जुन दुर्योधन और गन्धर्वोंको साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये। युधिष्ठिरने समझा-बुझाकर गन्धर्वोंको विदा कर दिया और दुर्योधनको यह कहकर लौटा दिया कि 'मेरे प्यारे भाई सुयोधन! बिना सोचे-विचारे कोई साहसका काम नहीं करना चाहिये। यह जो दुर्घटना घट गयी, इसके लिये किसी प्रकारका खेद मत करना, ऐसी ही होनी थी। अब तुम अपने भाइयोंके साथ अपनी राजधानीमें जाओ और वहाँ सुख भोगो।' दुर्योधन वहाँसे लौट गया।

दुर्योधनको पहले तो बड़ा पश्चात्ताप हुआ, परंतु पीछे उसकी बुद्धि बदल गयी। वह धर्मात्मा पाण्डवोंको और भी कष्ट पहुँचानेकी चेष्टा करने लगा। एक दिन यशस्वी, तपस्वी और तेजस्वी ऋषि दुर्वासा घूमते-घामते दस हजार शिष्योंके साथ दुर्योधनके अतिथि हुए। दुर्योधनने बड़ी विनयसे उनका स्वागत-सत्कार किया, वे कई दिनतक दुर्योधनके यहाँ रहे। दुर्योधन बड़ी तत्परतासे दिन-रात उनकी सेवामें लगा रहा। महर्षि दुर्वासाने कई प्रकारसे दुर्योधनकी परीक्षा भी ली, परंतु वह उनकी परीक्षामें उत्तीर्ण होता गया। कभी भोजन तैयार कराकर वे भोजन नहीं करते थे। कभी भोजनके लिये मना करके चले जाते थे और भोजनके समय दस हजार शिष्योंके साथ आकर पंक्तिमें बैठ जाते थे; परंतु दुर्योधनकी ओरसे किसी प्रकारकी असावधानी नहीं हुई, दुर्वासा बहुत ही प्रसन्न हुए।

दुर्वासाने दुर्योधनसे कहा—'बेटा! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वरदान माँग सकते हो। मेरे प्रसन्न होनेपर संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।' दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। मरकर जीवित होनेपर जितना हर्ष किसी साधारण मनुष्यको हो सकता है, उससे भी अधिक हर्ष दुर्योधनको हुआ। दुर्योधनने कुटिल शकुनि और कर्णसे पहले ही सलाह कर ली थी कि दुर्वासासे क्या वर माँगना होगा। दुर्योधनने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! हमारे वंशमें महाराज युधिष्ठिर ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। उनके गुण, सच्चरित्रता और शील-स्वभावकी महिमा सारे संसारमें प्रख्यात है। वे बड़े धर्मात्मा हैं और इस समय अपनी धर्मपत्नी द्रौपदी तथा छोटे भाइयोंके साथ वनमें निवास कर रहे हैं। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि जैसे आप शिष्योंके साथ मेरे यहाँ पधारकर अतिथि हुए हैं, वैसे ही उनके यहाँ भी हों। यदि आप मुझपर विशेष कृपा कर रहे हैं तो ऐसे समयमें जाकर उनके अतिथि होइये, जब यशस्विनी द्रौपदी ब्राह्मणों और पतियोंको खिला-पिलाकर स्वयं भी खा-पी करके विश्राम कर रही हो।' दुर्वासाने दुर्योधनकी प्रार्थना स्वीकार की और वे वहाँसे विदा हुए। आज कौरवोंमें बड़ी प्रसन्नता है, वे सोच रहे हैं कि दुर्वासाको भोजन न करा सकनेके कारण पाण्डवलोग अवश्य ही दुर्वासाकी क्रोधाग्निसे भस्म हो जायँगे।

भोले दुर्वासाजी दुर्योधनकी प्रार्थनाके अनुसार ठीक वैसे ही समयपर पाण्डवोंके अतिथि हुए। पाण्डवोंने आसनपर बैठाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की और हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'ब्रह्मन्! स्नान-सन्ध्या आदि नित्य कर्मोंको समाप्त करके आइये और भोजन कीजिये।' दुर्वासाके आनेका उद्देश्य ही यही था। उनके मनमें यह बात नहीं आयी कि वनवासी युधिष्ठिर इस समय मुझे और मेरे दस हजार शिष्योंको कहाँसे भोजन करायेंगे। उन्होंने स्वीकार कर लिया और वे शिष्योंके साथ नदीतटपर जाकर गोता लगानेके बाद परमात्माका ध्यान करने लगे।

द्रौपदीके लिये यह समय बड़ी विपत्तिका था। वह

दुर्वासाके स्वभावसे परिचित थी। यह जानती थी कि यदि इस समय दुर्वासाको भोजन नहीं मिलेगा तो वे शाप देकर पाण्डवोंको नष्ट कर देंगे। बहुत सोचने-विचारनेपर भी उसे कोई उपाय नहीं सूझा। वह घोर चिन्तामें पड़कर अशरण-शरण, अनाथ-नाथ, दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गयी। और चारा ही क्या था—और सहारा ही किसका था? ऐसे अवसरपर श्रीकृष्णके अतिरिक्त और सहायता ही कौन कर सकता है? उसका शरीर जड-सा हो गया, उसके हाथोंकी बरबस अञ्जलि बँध गयी, आँखोंसे आँसूकी धारा फूट निकली। वह मन-ही-मन कहने लगी—'श्रीकृष्ण! मेरे प्यारे श्रीकृष्ण! तुम्हारी बाँहें बड़ी लंबी हैं, तुम देवकी-नन्दन होनेपर भी अच्युत हो, तुम वसुदेवपुत्र होनेपर भी जगदीश्वर हो। जिसने तुम्हें प्रणाम किया, उसका घोर संकट तुमने टाल दिया। तुम्हीं विश्वके विधाता हो, तुम्हीं विश्वके संहारकर्ता हो और तुम्हीं स्वयं विश्व हो। मेरे प्रभु! मेरे स्वामी! मेरे सर्वस्व! तुम्हीं मेरे रक्षक हो, तुम्हीं सबके रक्षक हो, वास्तवमें तुम्हीं सबसे परे पुरुषोत्तम हो। तुम्हारी ही शक्तिसे चित्तकी वृत्तियोंमें चेतनाका सञ्चार होता है। तुम्हारी ही चेतनासे चित्तवृत्तियाँ ज्ञानके संचयमें समर्थ होती हैं। मैं हृदयसे तुम्हें प्रणाम करती हूँ। तुम सर्वश्रेष्ठ हो, तुम्हीं सबको वर देनेवाले हो, तुम अनन्त हो। जिन्हें किसीका सहारा नहीं है, तुम उनका सहारा हो। प्राण, इन्द्रिय और मनकी वृत्तियाँ तुमतक पहुँचनेमें असमर्थ हैं। हे सबके स्वामी! हे सबसे बढ़कर स्वामी! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। शरणागतवत्सल श्रीकृष्ण! कृपा करके मेरी रक्षा करो। नीलकमलके समान साँवले शरीरवाले, कमलकोषके समान लाल नेत्रवाले, पीताम्बर और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले श्रीकृष्ण! सभी प्राणी तुमसे उत्पन्न होकर तुममें ही विलीन हो जाते हैं। तुम्हीं एकमात्र सबकी परम गति हो। तुम परमसे भी परम ज्योति, विश्वात्मा और सर्वव्यापी हो। विद्वानोंने तुम्हें ही इस जगत्का परम बीज और सब ऐश्वर्योंकी खान कहा है। देवेश! तुम हमारे स्वामी हो, इसलिये हम किसी भी आपत्तिसे नहीं डरते। स्वामिन्! कौरवोंकी सभामें जैसे तुमने दुःशासनसे मेरी रक्षा की थी, वैसे ही इस महासंकटसे भी मुझे बचाओ। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ।'*

भगवान् श्रीकृष्ण कहाँ नहीं हैं? उनसे क्या छिपा हुआ है, कोई सच्ची प्रार्थना करे और वे वहाँ उपस्थित न हो जायँ, यह असम्भव है। द्रौपदीकी प्रार्थना द्वारिकामें पहुँची, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण शय्यापर लेटे हुए थे, पास ही रुक्मिणी थीं; उन्होंने अपनी नींद छोड़ दी। रुक्मिणीसे कहा भी नहीं, वे बात-की-बातमें द्रौपदीके पास पहुँच गये। उन्हें देखते ही द्रौपदी आनन्दातिरेकसे पुलकित हो गयी और प्रणाम करके दुर्वासाके आनेका सब हाल कह सुनाया। श्रीकृष्णने कहा—'पाञ्चाली! मैं द्वारिकासे यहाँ आते-आते थक गया हूँ, मुझे बड़े जोरसे भूख लगी है, पहले शीघ्र मुझे भोजन कराओ, पीछे देशभरकी बातें सुनाना।' श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर द्रौपदी बहुत ही लज्जित हुई। उसने कहा—'प्रभो! जबतक मैं भोजन नहीं करती, तभीतक सूर्य भगवान्के दिये हुए पात्रमें अन्न रहता है, फिर कुछ नहीं रहता। इस समय मैं भोजन कर चुकी हूँ, अब उसमें कुछ नहीं है।' श्रीकृष्णने कहा—'द्रौपदी! मुझे भूख लग रही है और तुम दिल्लगी कर रही हो। थके-माँदेके साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये। शीघ्र जाओ, वह पात्र मेरे पास ले आओ, विलम्ब नहीं करना, भला!' श्रीकृष्णका आग्रह देखकर द्रौपदी वह पात्र उठा लायी। उसके एक किनारेपर सागका एक टुकड़ा लगा हुआ था। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं देखकर उसे उठा लिया और उसे खाकर कहा—

---

* कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्त्तिविनाशन ।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर ।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्त्तक नतास्मि ते ॥
वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव ।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता ।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण ।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम् ।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम् ।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥
(म० भा० व० प० २६३)

उठा, उसकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, वह उस स्थानसे पीछे हट गयी। द्रौपदीने उसे झिड़ककर कहा—'खबरदार! बस, अब ऐसी बात जबानसे निकाली तो। ऐसी बात कहते तुझे लज्जा नहीं आती? दुष्ट! तू राजा बना बैठा है।'

द्रौपदी मन-ही-मन सोचने लगी कि इसके पास सेना है, सहायक हैं, यह स्वयं बलवान् है; यदि मुझे बलात् पकड़ ले जाय तो मैं क्या करूँगी? कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये कि यह कुछ देर विलम जाय और तबतक मेरे पतियोंमेंसे कोई-न-कोई आ जाय तो मेरी रक्षा हो सके। द्रौपदीका मुँह लाल हो गया, आँखोंमें खून उतर आया। वह कहने लगी—'मूर्ख! जो कभी युद्धमें विचलित नहीं हुए, उन पाण्डवोंके सम्बन्धमें ऐसी बात कहते समय तेरी जीभ गिर जानी चाहिये। क्या तेरे मित्रोंमें ऐसा कोई तेरा हितैषी नहीं है जो तुझे नरकमें गिरनेसे बचा ले? क्या तू धर्मराजको जीत सकता है? इस समय तेरी चेष्टा वैसी ही है जैसे कोई सोये हुए सिंहको लात मारकर, उसकी गर्दनके बाल उखाड़कर भागनेकी चेष्टा कर रहा हो। तू किसी भी लोकमें किसी भी कन्दरामें छिपकर अर्जुनके बाणोंसे नहीं बच सकता। नकुल और सहदेवसे युद्ध करते समय तू अनुभव करेगा कि तूने विषैले नागकी पूँछपर पैर रक्खा है।'

जयद्रथने कहा—'मुझे धमकाओ मत, मैं पाण्डवोंको अपनेसे नीच समझता हूँ। तुम्हें मेरे साथ चलना ही होगा, मैं तुम्हें बलात् पकड़कर ले चलूँगा।' द्रौपदीने कहा—'मैं अबला नहीं हूँ, मैं पाण्डवोंकी धर्मपत्नी होनेके कारण महाबलशालिनी हूँ। मैं तेरे सामने कभी दीन वचन नहीं कह सकती। मेरे रक्षक भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, तेरी क्या मजाल जो मुझे छू सके। गाण्डीव धनुषकी टङ्कार सुनकर तू भाग जायगा। यदि अपने पतियोंके विरुद्ध कभी एक बात भी मेरे मनमें नहीं आयी है, तो मैं सत्य-सत्य शपथ करके कहती हूँ कि कुछ ही क्षणोंके बाद तुझे अपने पतियोंके कैदमें देखूँगी। मैं देखूँगी कि वे तेरे सिरके बाल पकड़कर घसीटते हुए लिये आ रहे हैं। यदि तू मुझे बलपूर्वक ले जायगा तो भी मैं तुझसे नहीं डर सकती। अभी-अभी पाण्डव आते हैं।' द्रौपदी कह ही रही थी कि जयद्रथने झपटकर उसे पकड़ना चाहा। द्रौपदीने पुरोहित धौम्यको अपनी रक्षाके लिये पुकारते हुए, अपने दुपट्टेको इस प्रकार झटका कि जयद्रथ कटे हुए पेड़की तरह चारों खाने चित्त जमीनपर गिर पड़ा। धौम्यने आकर बहुत समझाया-बुझाया, परंतु उसने उनकी एक बात नहीं सुनी। द्रौपदी भी उसके स्पर्शसे बचनेके लिये पुरोहित धौम्यके चरण छूकर बारंबार लंबी साँस भरती हुई जयद्रथके रथपर सवार हो गयी। उसने रथ हाँका, धौम्य उसके पीछे-पीछे चलने लगे।

वनमें गये हुए पाण्डवोंके सामने अनेकों अपशकुन होने लगे। युधिष्ठिरने प्रेरणा की कि हमें यह वन सूना-सा दीख रहा है, शीघ्र-से-शीघ्र आश्रमपर चलो। आश्रमपर पता लगाकर भीमसेन और अर्जुनने जयद्रथका पीछा किया। उनके भयंकर शब्दसे वह वन गूँज उठा। उन्हें देखकर जयद्रथकी हिम्मत पस्त हो गयी। वह डरकर द्रौपदीसे पूछने लगा—'ये जो पाँचों वीर मेरी ओर दौड़े आ रहे हैं, वे कौन-कौन हैं बतलाओ तो सही।' द्रौपदीने कहा—'मूर्ख! यह नीच कर्म करनेके बाद तू उन धर्मात्माओंका परिचय पूछ रहा है। ये पाँचों वीर मेरे स्वामी हैं, अब तेरे पक्षका कोई आदमी नहीं बच सकता। उनका दर्शन हो जानेके बाद न मुझे दुःख और न तेरा कुछ डर है। अब तू शीघ्र ही मरनेवाला है, इसलिये धर्मका ख्याल करके तेरे प्रश्नका उत्तर दे देना चाहिये। सुन, जिनकी ध्वजाके सिरेपर बँधे हुए दो मृदङ्ग रथ चलनेके समय स्वयं ही बजते रहते हैं, जिनके शरीरका रंग सोनेके समान उज्ज्वल और चमकीला है, जिनकी नाक नुकीली और ऊँची है, जिनके दोनों नेत्र विशाल हैं और जो धर्मके मर्मज्ञ हैं, वे मेरे पति युधिष्ठिर हैं। इसी प्रकार द्रौपदीने पृथक्-पृथक् सबका परिचय दिया। तबतक पाण्डव पहुँच चुके थे, पैदल सेनाने शस्त्र त्याग करके हाथ जोड़ लिये। इससे पाण्डवोंने उसपर प्रहार नहीं किया। सवारोंके प्राणोंके लाले पड़ गये।

हमें न युद्धका विशेष वर्णन करना है और न तो किसको किसने मारा, यही बतलाना है। युद्धका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि जयद्रथ चुपकेसे रणभूमि छोड़कर भग गया। युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव द्रौपदीको लेकर आश्रमपर लौट आये। भीमसेन और अर्जुन जयद्रथको पकड़नेके लिये आगे बढ़े। युधिष्ठिरने कहा—'भाई! जयद्रथ दुर्योधनका बहनोई है, इसलिये वह हमारा भी बहनोई है। दुर्योधनकी बहिन दुःशला और माता गान्धारीके दुःखका ख्याल करके उसे मारना मत, भला!' द्रौपदीने कहा—'नहीं, नहीं; उस कुलकलङ्क नराधमको जीता न छोड़ना।' भीमसेन और अर्जुनने जाकर जयद्रथको पकड़ लिया और

बाल खींचकर घसीटते हुए, घूँसोंसे खूब पीटा। भीमसेनकी मारसे वह बार-बार बेहोश हो जाया करता था। अर्जुनने कहा कि 'बड़े भैयाकी बात याद रखना।' भीमसेनने लाचार होकर मारना बंद कर दिया। उसके सिरके बाल उखाड़ डाले, रूप-विरूप कर दिया, पाँच चोटियाँ रख दीं। वह चुपचाप खड़ा रहा, सिटपिटाया नहीं। भीमसेनने कहा—'तुझे मैं एक शर्तपर छोड़ सकता हूँ, वह यह है कि अब तुम आजसे अपनेको राजा मत कहना, जहाँ जाना, दास ही बताना।' जयद्रथने बिना ननु-नचके भीमसेनकी शर्त मंजूर कर ली।

भीमसेन जयद्रथको बाँधकर युधिष्ठिरके पास ले आये। उसकी दुर्दशा देखकर पहले तो युधिष्ठिरको हँसी आ गयी, परंतु फिर उन्होंने अपनेको सम्हालकर उसे छुड़वा दिया। द्रौपदीने भी कहा—'हाँ, हाँ, अब इसे छोड़ दो।' राजा जयद्रथ मर गया, दास जयद्रथ जीवित रहे, इससे पाण्डवोंका गौरव बढ़ता ही है। धर्मराजने जयद्रथको धर्मका उपदेश दिया और कहा कि 'भगवान्का भजन करो और अब ऐसा कुकर्म करनेका विचार त्याग दो। भगवान् तुम्हें सद्बुद्धि दें। तुम्हारा कल्याण हो।' जयद्रथसे कुछ कहते नहीं बना, वह सिर नीचा करके वहाँसे विदा हो गया।

द्रौपदी-हरणसे पाण्डवोंको बड़ा दुःख हुआ। वे अपनी दुरवस्थासे व्यथित हो गये। मार्कण्डेय ऋषिने रामायणकी कथा सुनायी और बताया कि 'भगवान् रामचन्द्रकी धर्मपत्नी सीताका भी हरण हो गया था और उन्हें तुमसे भी अधिक विपत्तियोंका सामना करना पड़ा था। इसके लिये चिन्तित होना उचित नहीं है। इस घटनामें भी तुम्हारे कल्याणका बीज है। भगवान्की प्रत्येक देनको उत्सुकता और प्रसन्नताके साथ ग्रहण करना चाहिये। इसीमें जीवोंका परम कल्याण है।'

पाण्डव वनमें द्रौपदीके साथ वनवासके बारहवें वर्षके अवशेष दिन व्यतीत करने लगे।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्। स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'मनुष्योंमें वे भाग्यवान् तथा निश्चय ही कृतार्थ हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं भगवान्का नाम स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस समय समस्त विश्वमें हाहाकार मचा है। सब ओर अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कलह, कलुष, संग्राम और संहार बढ़ रहे हैं। धर्म तथा ईश्वरके प्रति बढ़नेवाली अश्रद्धासे मनुष्य पिशाच हुआ चला जा रहा है। इसीसे आधिदैविक दुःख भी बढ़ रहे हैं। युद्ध, बाढ़, अवर्षा, अकाल, अन्नकष्ट, व्याधि आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पता नहीं, ये उपद्रव कितने और बढ़ेंगे। ऐसी दशामें इस विपत्तिसे त्राण पानेके लिये श्रीभगवान्का आश्रय ही एकमात्र उपाय है। भगवदाश्रयके लिये भगवन्नामका आश्रय आवश्यक है। भगवन्नामसे ऐसा कौन-सा विघ्न है, जो नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो नहीं मिल सकती। प्रतिबन्धक प्रबल होनेपर देर भले ही हो जाय, परंतु नामका अमोघ फल तो होता ही है। इस घोर कलियुगमें तो जीवोंके लिये भगवन्नाम ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष तथा समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानव-जीवनके परम ध्येय भगवान्की प्राप्तिके लिये सबको भगवन्नामका जप-कीर्तन करना चाहिये। 'कल्याण' के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक तथा सभी पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं। प्रतिवर्षकी भाँति गतवर्ष २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि सैकड़ों जगह हजारों नर-नारियोंने करोड़ों मन्त्रोंका जप किया है। स्थानों-

की सूची आगामी अङ्कमें प्रकाशित की जायगी। हम इन सभी जापकोंके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं।

इस वर्ष भी अपने देशके, धर्मके तथा विश्वके कल्याणके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करके 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंको नाम-जप करना-कराना चाहिये। गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की जाती है। आगामी कार्तिक शुक्ला १५ से जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ला १५ तक हो। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्का नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, वृद्ध-बालक सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण'के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे करवायें। नियमादि सदाकी भाँति हैं।

यह आवश्यक नहीं कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। भगवन्नामका जप जितना भी हो जाय, उतना ही उत्तम है। भगवन्नामकी शरणागति अमोघ है और वह महान् भयसे तारनेवाली है।

जो लोग जपका नियम करें-करावें, वे नीचे लिखे अनुसार जोड़कर सूचना भेजनेकी कृपा करें।

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को समझनी चाहिये। उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत उत्तम है।

२. सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमों के नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३. प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४. सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल अपना नाम और पता लिख भेजें।

५. संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ—यदि ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिन मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है। जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद कर देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई जप करें उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब भी इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६. संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७. सूचना भेजनेका पता—नाम-जप-विभाग 'कल्याण'—कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार
कल्याण-सम्पादक

रजि० सं० ए० १७५

श्रीगीता-जयन्ती

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको मुझमें त्यागकर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ । मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा । तुम शोक मत करो ।'

श्रीमद्भगवद्गीता सर्ववेदमयी, सर्वशास्त्रमयी, सर्वयोगमयी, सर्वसिद्धिमयी, सर्वमन्त्रमयी और सर्व-कल्याण-सिद्धान्तमयी है । इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग आदि समस्त साधनोंका संक्षेपमें बड़ा महत्त्वपूर्ण वर्णन है । किसी भी क्षेत्रका, किसी भी दुविधामें पड़ा हुआ, किसी भी देश, जाति, धर्मका मनुष्य गीतासे दिव्य प्रकाश प्राप्त कर सकता है । गीता सारी उलझनोंको सहज ही सुलझा देनेवाला सरल सिद्ध वाङ्मय है । इससे अन्धकारमें पड़े हुओंको प्रकाश, मार्ग भूले हुओंको सन्मार्ग, निराश प्राणियोंको निश्चित आशाकी ज्योति, शोकग्रस्तोंको उल्लासमय प्रसाद, कर्तव्यविमूढोंको कर्तव्यज्ञान, पापियोंको पापनाशका सहज साधन, राजनीतिक कर्मियोंको दिव्य नीतिकी शिक्षा, कर्मप्रणव पुरुषोंको बन्धनसे मुक्त करनेवाले निष्कामकर्मकी प्रक्रिया, भक्तोंको उच्चतम भक्तिका स्वरूप, ज्ञानियोंको दिव्य ज्ञानका प्रकाश—कल्याणमय कल्पतरुकी भाँति जो जिस कल्याण—वस्तुको चाहता है, उसे वही मिलती है । गीतामाता स्नेहमयी जननीकी भाँति सभी संतानोंको नित्य कल्याण-मार्ग प्रदान करती है । वर्तमान विपत्तिग्रस्त, कलह-क्लेशसे त्रस्त और संदेह-अविश्वासके पाशमें आबद्ध प्राणिजगत्‌को यदि सर्वाङ्गीण मुक्तिका मार्ग मिल सकता है तो वह श्रीमद्भगवद्गीतासे ही । अतः गीतामाताकी ही सबको शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ल ११ गुरुवार तारीख २७ नवम्बरको श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है । इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताजीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बननी चाहिये । पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये ।

(१) गीताग्रन्थका पूजन ।

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य पारायण ।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीतातत्त्व और गीतामहत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामसंकीर्तन आदि ।

(५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण ।

(६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌की विशेष पूजा ।

(७) जहाँ कोई अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा ।

(८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें ।